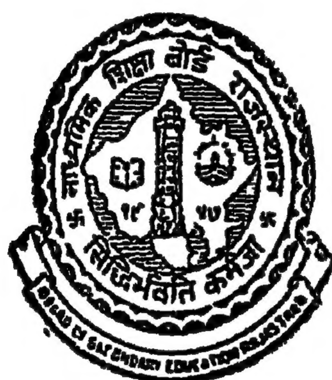
# प्रेरणा के स्रोत

लेखक

केसरीलाल बोरदिया

विपिनविहारी वाजपेयी



[माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान के
अधिकार द्वारा प्रकाशित]

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा

प्रथम संस्करण १९६३
द्वितीय संस्करण १९६४
तृतीय संस्करण १९६५

मूल्य
रु० १·५६ पै.

मुद्रक
जगदीशप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०
एजुकेशनल प्रेस, आगरा-३

# प्रस्तावना

वर्तमान भारतीय शिक्षाप्रणाली का एक गम्भीर दोष यह है कि उसमे नैतिक शिक्षा की उपेक्षा की गयी है। हमारे देश के बालक तथा नवयुवक अपने धर्म और सस्कृति से भी बहुत कम परिचित होते हैं। अन्य धर्मों और सस्कृतियो से परिचित होने की बात ही क्या ? उन्हे विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति और इन्जीनियरिंग विषय तो स्कूलो मे पढाये जाते हैं, परन्तु उन्हे अपने व्यक्तित्व का अपने देश की सस्कृति के मूल्यो के आधार पर निर्माण करने का अवसर नही मिलता। मानव-जीवन के बुनियादी मूल्य मनुष्यमात्र की विरासत हैं। सब धर्मों ने उन पर बल दिया है। इसलिए सब महान् धर्मो की प्रारम्भिक जानकारी हमारे युवको के लिए वाछनीय है। भारत मे लगभग सब महान् धर्मो के अनुयायी बसते है। इसलिए भारतीय बालको और युवको के लिए हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, ब द्ध, सिख और जैन धर्म से परिचय विशेष तौर पर आवश्यक हो जाता है। उनके लिए केवल अपने ही धर्म को समझना काफी नही है।

विश्व के महान् धर्मों के बुनियादी मूल्यो से स्कूल के विद्यार्थियो को कैसे अवगत कराया जाय ? केवल विभिन्न धर्मों के सिद्धान्त पढने से विद्यार्थी उस धर्म के मूल्यो को आत्मसात् नही कर सकते। धर्म के सिद्धान्तो का व्यवस्थित अध्ययन तो कॉलेज मे कराया जाना चाहिये। माध्यमिक स्कूलो के विद्यार्थी किशोरावस्था मे होते हैं, जब कि जीवनियो अथवा कहानियो के द्वारा उन्हे समाज के आदर्शो तथा मूल्यो को समझाया जाना चाहिये। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक कक्षाओ के विद्यार्थियों के लिए तैयार की गयी है।

# प्रस्तावना

इस पुस्तक मे विश्व के महान् धर्मों के संस्थापको जैसे बुद्ध, ईसा मुहम्मद तथा भारत के कुछ अन्य महान् व्यक्तित्वो एव सन्तो के जीवन की चुनी हुई घटनाओ का समावेश है, जो उनके व्यक्तित्व के सौन्दर्य पर प्रकाश डालती है। इन घटनाओ के साथ उन महापुरुषो के कुछ महत्व-पूर्ण उपदेशो को भी लिया गया है। पुस्तक मे आलोचना तथा मतभेद से बचने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इस देश का कोई एक राष्ट्रीय धर्म नही है, और यो देखा जाय तो हिन्दू, ईसाई, जैन, सिख सभी धर्मों ने भारतीय सस्कृति के वैभव को वढाया है। अतएव इस पुस्तक मे भी किसी एक धर्म के प्रति आग्रह नही है। सर्व-धर्म-समभाव के दृष्टिकोण से इस पुस्तक को तैयार करने का प्रयत्न किया गया है। दुर्भाग्य से लेखक महात्मा जरथुष्ट्र और हजरत मूसा की जीवनियो मे से शैक्षिक दृष्टि से उपयोगी और सार्थक संकलन करने मे असमर्थ रहे है। इससे यह नही समझना चाहिये कि उनके मन मे इन महान् विभूतियो के प्रति कम श्रद्धा है। वे केवल अपनी सीमित योग्यता के कारण इन महापुरुषो की जीवन-घटनाएँ इस पुस्तक मे समाविष्ट नही कर पाये हैं।

पाठको से, और विशेपकर राजस्थान के शिक्षको से निवेदन है कि रचनात्मक आलोचना और सुझाव भेज कर इस पुस्तक की कमियो तथा दोषो का अगले सस्करण मे सुधार कराने मे सहायता करें। उनके सुझावों पर उचित विचार किया जायगा।

लेखक श्री मदनमोहन वर्मा, भूतपूर्व अध्यक्ष, राजस्थान माध्यमिक शिक्षा वोर्ड के अत्यन्त आभारी हैं कि उन्होने सतुलन, सर्व-धर्म-समभाव तथा नैतिक शिक्षा की दृष्टि से विषय-सामग्री के चुनाव मे उनका मार्ग-दर्शन किया। वोर्ड के वर्त्तमान अध्यक्ष श्री लक्ष्मीलाल जोशी ने भी भापा मे कई सुधार सुझाये। अत. लेखक उनके प्रति भी आभारी हैं।

केसरीलाल वोरदिया

विपिनविहारी वाजपेयी

# विषय-सूची

# मर्यादा पुरुषोत्तम राम

राम का चरित्र भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है। देश का प्रथम महाकाव्य 'वाल्मीकि रामायण' इसी महान् चरित्र को लेकर लिखा गया। भारतीय संस्कृति जिन गुणों और विशेषताओ के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है, राम का चरित्र उन गुणो और विशेषताओं का जैसे आगार है। यही कारण है कि महर्षि वाल्मीकि ही नही उनके पश्चात् संस्कृत, प्राकृत, अवधी, ब्रज तथा खडी बोली के अनेक कवि इस महान् चरित्र की गरिमा से आकृष्ट हुए इतना ही नही, उपर्युक्त भाषाओ के अतिरिक्त देश की कई अन्य भाषाओं में भी राम के चरित्र अथवा उनकी जीवन-गाथा के विविध अंशों को लेकर अनेक काव्य-ग्रन्थ रचे गये।

महर्षि वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना करने के पूर्व एक बार सहज जिज्ञासा-वश महर्षि नारद से ससार के किसी आदर्श पुरुष का परिचय देने के लिए निवेदन किया था देवर्षि नारद ने इस पर महर्षि वाल्मीकि को मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का वृत्तान्त कह सुनाया। नारद ने जिन शब्दो में राम के गुणो का बखान किया, उनसे हमे उनके महान् चरित्र का एक सक्षिप्त किन्तु सारभूत परिचय मिल जाता है, नारद ने कहा :—

"जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न जगद्विख्यात राम का चरित्र ही इस समय ससार मे आदर्श कहा जा सकता है।

"राम स्वरूप से चन्द्र के समान अभिराम, बलवीर्य-सम्पन्न, महातेजस्वी और सर्व शुभलक्षणयुक्त है। उनके अङ्ग-प्रत्यंग सम, सुदृढ़, सुविभक्त और सुविकसित है। स्वभाव से वे और भी सौम्य, सुसस्कृत तथा महान् है।

"राम की प्रकृति अत्यन्त शान्त, सरल और सुकोमल है। वे बड़े ही सहृदय, विनयी, उदार, सहनशील, समदर्शी तथा क्षमावान् पुरुष है। उनके चित्त मे किसी के प्रति कोई दुर्भाव नही है। लोक-रजन के लिए वे बड़े से बड़ा त्याग करने को उद्यत रहते है।

"सर्वसमर्थ सत्ताधारी होकर भी राम प्रमादी, अहकारी या स्वेच्छाचारी नही है। वे अन्यतम रूप से मर्यादावान् हैं, किसी भी परिस्थिति मे वे लोक-धर्म की मर्यादा का उल्लघन नही करते; सदा सत्य और न्याय के मार्ग पर ही चलते है।

"राम बड़े स्वाभिमानी, स्वावलम्बी, दृढनिश्चयी तथा कर्मशूर हैं। भयकर परिस्थितियो मे भी वे कर्त्तव्यविमूढ नही होते, और अपने पौरुष-पराक्रम से प्रबलतम वैरी को भी परास्त करने का उत्साह रखते हैं।

"विद्या-बुद्धि मे भी राम की सर्वमान्यता निर्विवाद है।



वे अत्यन्त प्रतिभाशाली, मेधावी, देशकाल-ज्ञानी, आचार-कोविद तथा सर्वशास्त्र-विशारद है।

"जिस दृष्टि से भी देखा जाय, राम एक आदर्श नर-नेता ही प्रतीत होते हैं। बल-पराक्रम, धैर्य-उत्साह, मनस्विता, तेजस्विता, विद्या-बुद्धि, शील-सौजन्य, सयम-सदाचार, त्याग-उदारता और कर्मवीरता आदि मे उनकी बराबरी करने वाला कौन है?

"सार रूप मे यही समझिये कि वे गम्भीरता मे समुद्र के समान, धैर्य मे हिमाचल के समान, पराक्रम मे विष्णु के समान, क्षमा मे पृथ्वी के समान, प्रजापालन मे प्रजापति के समान तथा सत्यपालन मे दूसरे धर्मराज के समान है। अपनी ऐसी ही विशेषताओ के कारण राम आज जगत् मे सर्वपूज्य तथा सर्वप्रिय है। सज्जनो के बीच वे सरिताओ से सेवित समुद्र के समान लगते है। वे एक आदर्श जननायक, आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श वीर और आदर्श मानव है।"

महर्षि नारद के मुँह से श्रीराम के उज्ज्वल चरित्र के सम्बन्ध मे ये उद्गार सुनकर महर्षि वाल्मीकि का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। जिस महापुरुष के चरित्र को लेकर वे अपना महाकाव्य रचने [illegible] थे, वह नारद जैसे परम ज्ञानी की दृष्टि मे भी सब प्रकार से आदर्श और श्रेष्ठ था, यह जानकर उन्हे परम सन्तोष हुआ। उनका संकल्प दृढ होता गया और अन्तत: ऐसी मधुर, सयत तथा

सरस शैली में उन्होंने राम-चरित्र का चित्रण किया कि उनके द्वारा रचित वह महाकाव्य 'रामायण' आज भी भारतीय साहित्य-माला का सुमेरु बना हुआ है।

वाल्मीकि-रामायण की रचना के हजारों वर्ष बाद तुलसीदास ने हिन्दी में 'रामचरितमानस' लिखा। यह राम-चरित भक्तिभाव से ओतप्रोत है और इसमे राम को ईश्वर का अवतार माना गया है। वैसे भी भारतीय जनता के हृदय में श्री रामचन्द्र के लिए इतनी श्रद्धा है कि उनके जीवन की घटनाएँ अतिरंजित रूप में हमारे सामने आती है। उनकी वीरता, साहस तथा शक्ति में अलौकिकता का आभास मिलता है। किन्तु इतने पर भी उनके चरित्र के माध्यम से रामायण और रामचरितमानस में जीवन के जिन महान् आदर्शों की ओर संकेत किया गया है, वे निस्सन्देह मानवमात्र के लिए परम मूल्यवान तथा प्रेरणास्पद है। राम की पितृभक्ति, भ्रातृप्रेम और जनता के प्रति अनुराग, सीता की पतिभक्ति, लक्ष्मण की भ्रातृसेवा तथा हनुमान की स्वामि-भक्ति भारतवासियों को सदा महान् आदर्शों की ओर प्रेरित करती रहेगी।

राम अयोध्या के राजा दशरथ के सबसे बडे पुत्र थे। कौशल्या उनकी माता थी। माता-पिता दोनो की आँखो के वे तारे थे। वे बाल्यकाल से ही बडे होनहार, बडे कर्मठ, बड़े परिश्रमी और बडे मेधावी थे। दशरथ की दूसरी महारानी कैकेयी से भरत, तथा सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न नाम के

ी पुत्र और थे। राम का अपने सभी भाइयो पर प्रगाढ स्नेह
ा तथा सभी भाई उन्हे अत्यन्त स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से
खते थे। अयोध्या-नरेश के कुल-गुरु महर्षि वशिष्ठ के पास
हू कर चारों भाइयो ने शिक्षा प्राप्त की। शस्त्र और शास्त्र
ोनों ही का बड़े मनोयोग पूर्वक उन्होने अभ्यास किया।
छोटी अवस्था मे ही अपनी विलक्षण प्रतिभा से उन्होने समस्त
ुरुजनो को मोह लिया। महर्षि वशिष्ठ की देख-रेख मे
अपनी शिक्षा का पहला चरण वे समाप्त कर ही पाये थे कि
उन्हे एक कठोर परीक्षा देने के लिए तैयार होना पडा।

महर्षि विश्वामित्र एक दिन सहसा अयोध्या पधारे।
राजा दशरथ ने बड़े हर्ष और आदर के साथ उनका स्वागत
किया। विश्वामित्र ने अपने तपोवन मे कुछ निरंकुश तथा
उत्पाती जनो द्वारा किये जाने वाले उपद्रवो की चर्चा की,
तथा इन उपद्रवो को शान्त करने के लिए राम को अपने साथ
ले जाने का प्रस्ताव किया। राम की बाल्यावस्था का विचार
कर पहले तो दशरथ झिझके, किन्तु गुरु वशिष्ठ के समझाने
पर तैयार हो गये। राम के साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण
भी हो लिये।

विश्वामित्र के तपोवन मे जाकर दोनो भाइयो ने आश्रम
की सुरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। ताड़का, मारीच,
सुबाहु आदि कई आतंककारी जन दल-बल के साथ चढकर
आये, किन्तु राम-लक्ष्मण के अद्भुत शस्त्र-कौशल तथा पराक्रम

के आगे उनकी एक न चली। ताड़का और सुबाहु जान मारे गये, तथा मारीच मूर्च्छित होकर दूर जा गिरा। द भाइयों की इस सफलता से विश्वामित्र को अत्यन्त प्रस' हुई। उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें कई नई विद्याएँ सिखल।ब

राम राजपुत्र थे—राजसी ठाठबाट में पले और बड़े हु' उनका राजभवन से दूर जाने का यह पहला ही अवसर ' किन्तु विश्वामित्र तथा अन्य ऋषि-मुनियों के साथ रहते उन्होंने गुरुजनों के प्रति जिस सेवा-भावना एवं नम्रता, त आततायियों का सामना करने में जिस निर्भीकता तथा वी' का परिचय दिया, वह प्रशंसनीय था।

विश्वामित्र के तपोवन में होने वाले उपद्रवों का द कर चुकने पर राम-लक्ष्मण ने घर लौटने की आज्ञा चा किन्तु विश्वामित्र ने उनसे यह आग्रह किया कि वे उनके स मिथिला तक और हो आवें। मिथिला के राजा जनक दिनों एक महायज्ञ की तैयारी में लगे हुए थे। विश्व उसी यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए वहाँ जा रहे थे। रा लक्ष्मण को ले जाने में उनका एक और विशेष प्रयोजन: राजा जनक के पास एक विचित्र धनुष था, जिस पर समय तक कोई प्रत्यञ्चा तक नहीं चढा सका था। राजा ज' ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे अपनी पुत्री सीता विवाह उसी वीर के साथ करेंगे, जो उस धनुष पर प्रत्य' चढ़ा सके। इधर राम की वीरता को देख कर विश्वामित्र

यह विश्वास हो गया था कि वे अवश्य ही इसमे सफल होगे।

यज्ञ के साथ-साथ सीता-स्वयंवर का भी आयोजन था। यथासमय सभा जुडी। बडे-बडे वीर जिन्हें अपने बल-पौरुष पर पूर्ण विश्वास ही नही अभिमान भी था, वहाँ उपस्थित हुए। किन्तु उनकी लज्जा का कोई ठिकाना नही रहा, जब वह शिव-धनुष उनसे उठना तो दूर, उनसे सरका तक नही। बडे-बडे वीरों की यह स्थिति देख जनक को बडी निराशा हुई। उन्होने यहाँ तक कह डाला कि "वीर विहीन मही मै जानी" (रामचरितमानस)। राम अभी दर्शक बने अन्यान्य वीरो के असफल प्रयासों का तमाशा देख रहे थे। राजा जनक के मुँह से निकले उक्त शब्द उन्हे वडे अनुचित लगे। लक्ष्मण तो उत्तर दिये विना रह ही नही सके। उठ खडे हुए और बोले—

"रघुवंसिन्ह महुँ जहुँ कोउ होई।
तेहि समाज अस कहइ न कोई॥"

(रामचरितमानस)

महर्षि विश्वामित्र ने अब राम की ओर संकेत किया, और राम गम्भीर किन्तु सहज भाव से धनुष के निकट जा पहुँचे। फिर उतने ही सहज भाव और सरलता से उन्होने उसे उठा लिया। धनुष को उठाकर उनका उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ाना था कि वह दो खण्ड होकर भूमि पर गिर पड़ा। सारा उपस्थित समाज चकित रह गया। प्रतिस्पर्धियो के मस्तक नत हो गये। राम की जय-जयकार से आकाश गुञ्जायमान हो उठा। राजा

जनक और उनके परिवार के हर्ष का तो ठिकाना ही क्य था। उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई, और उन्हे अपनी पुत्री के लि राम जैसा सुयोग्य वर प्राप्त हुआ। उन्होने तुरन्त बडे उत्सा और उल्लास के साथ अयोध्या सन्देश भेजा। अपने पुत्र क वीरता और सफलता के समाचार से दशरथ हर्ष-विभोर ह गये। तुरन्त तैयारी हुई और बडी सजधज के साथ बारा लेकर दशरथ जनकपुर आ पहुँचे।

बडी धूमधाम के साथ राम और सीता का विवाह हुआ। उसी अवसर पर सीता की छोटी बहिन उर्मिला के सा लक्ष्मण का तथा उनकी चचेरी बहिन माण्डवी और श्रुतकी के साथ क्रमशः भरत और शत्रुघ्न का भी विवाह हो गया कई दिनों तक जनकपुर के आतिथ्य का आनन्द लेकर बार अयोध्या लौटी।

उत्साह और उल्लास के वातावरण में कई दिन बीत गये राजा दशरथ अब वृद्ध हो चले थे। उनकी यह इच्छा थी अपने जीतेजी ही राम का राजतिलक कर स्वय विश्र ग्रहण करलें। उन्होने अपनी यह इच्छा अपने कुलगु परामर्श-दाताओं तथा प्रजाजनों के समक्ष व्यक्त की। रा की योग्यता तथा गुणो पर सभी मुग्ध थे। इसलिए व एक स्वर से उनके इस प्रस्ताव का स्वागत किया। राजतिल की तिथि निश्चित हो गयी और बड़ी तत्परता के साथ उस लिए तैयारियां होने लगी।

किन्तु राजतिलक के लिए निश्चित दिन से ठीक एक
न पूर्व एक दु खदायी घटना हो गयी। भरत की माता कैकेयी
पास मन्थरा नाम की एक मुँहलगी दासी थी। उसने कैकेयी
। यह उल्टो पट्टो पढायी कि यदि राम अयोध्या के राजा हो
ये, तो उसकी (कैकेयी की) और उसके पुत्र की दुर्गति निश्चित
। कैकेयी पहले तो बडी नाराज हुई और उसने मन्थरा को
हुत बुरा-भला भी कहा, किन्तु अन्त में वह उसकी बातो में
। गयी। वही कैकेयी जो राम को प्राणो से भी अधिक प्यार
रती थी और अपनी कोख से जन्मे पुत्र भरत से भी उन्हे अधिक
ानती थी, आज मन्थरा की कुशिक्षा के जाल मे फँस कर कितनी
दल गयी? सन्ध्या को जब राजा दशरथ उसके राजमहल
। आये तो उन्होने उसे कोपभवन मे पाया। बहुत समझाने-बुझाने
और कारण पूछने पर कैकेयी ने उन्हे उन दो वचनो की याद
दिलायी जो उन्होने कभी उसे दिये थे। दशरथ ने जब यह आश्वा-
सन दे दिया कि वह जो कुछ भी आज मांगेगी, वे उसे स्वीकार
कर लेंगे, उसने उनके सामने दो मांगे रखी—पहली, राम के
लिए चौदह वर्ष का वनवास तथा दूसरी, भरत के लिए
राजसिंहासन।

दशरथ जैसे आकाश से भूमि पर आ गिरे। उन्हें स्वप्न मे भी आशा नही थी कि कैकेयी उनके सामने ऐसे प्रस्ताव भी रख सकेगी। उन्हे अपने चारों पुत्र प्राणों से भी प्रिय थे, किन्तु ज्येष्ठ और अधिक योग्य होने के कारण राम पर स्वभावत.

उनकी अधिक ममता थी। भरत को राजसिंहासन सौंपने की बात चाहे वे मान भी लेते, किन्तु राम को चौदह वर्ष का वनवास देने की बात! उसकी तो कल्पना करना भी उनके लिए दुष्कर था। किन्तु अब क्या करें? पिंजरबद्ध पक्षी की भाँति दशरथ का मन भीतर ही भीतर छटपटाने लगा। यदि प्रस्ताव अस्वीकार करते है तो वचन-भग के दोषी होते है, और यदि स्वीकार करते हैं तो अनर्थ हुआ जाता है। इसी असमजस मे रात बीत चली। अयोध्यावासी राज्याभिषेक का उत्सव देखने की कामना और भावना के साथ बड़े सवेरे ही राजमन्दिर की ओर चल पड़े। किन्तु कौन जानता था कि भविष्य के गर्भ मे क्या छिपा है?

उधर कैकेयी ने जब दशरथ को इस प्रकार असमजस में पड़े देखा तो तुरन्त राम को बुला भेजा। सन्देश पाते ही राम आये। पिता को विकल और विह्वल अवस्था में देखकर उन्हे बडी चिन्ता हुई। उन्होने कैकेयी से वस्तुस्थिति समझाने की प्रार्थना की। कैकेयी ने दशरथ के वचनबद्ध होने का पूरा वृत्तान्त कह सुनाया, और अन्त में यह भी कह दिया कि तुम्हारे मोह के कारण वे अपना वचन पूरा करने मे असमर्थ हो रहे हैं। राम ने पूरी बात शान्ति से सुनी। अपने वनवास की बात सुनकर न उन्होने कोई खेद प्रकट किया, न क्रो", और न आश्चर्य। पिता के वचन की रक्षा के लिए वे तुरन्त वन जाने के लिए तैयार हो गये। उनके सामने उस समय बस एक ही बात थी—

"रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिं पर बचन न जाई॥

(रामचरितमानस)

राम के इस धीर-वीर स्वभाव की तुलना कोई किससे करे? अपने पिता तथा कैकेयी को प्रणाम कर जब वे माता कौशल्या और सीता से विदा लेने के लिए चले तो महाराज (दशरथ) मूर्च्छित हो गये, परन्तु राम अपने निश्चय से विचलित नही हुए। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है:—

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥

अर्थात् पृथ्वी के राज्य को छोडकर, वन जाने के समय भी उस असाधारण महापुरुष राम के चेहरे पर कोई विकार दिखायी नही दिया।

राम के लिए माता कौशल्या से वन जाने की आज्ञा प्राप्त करना सहज नही था। माता का हृदय भला कब मानने वाला था? किन्तु कर्त्तव्य और वचन-पालन की भावना के सामने पुत्र-प्रेम को भी झुक जाना पड़ा। माता कौशल्या ने छाती पर पत्थर रख कर किसी प्रकार राम को वन जाने की आज्ञा दे दी। किन्तु जब राम ने सीता से विदा माँगी तो उन्होने केवल यह कहा कि "आप पिता की आज्ञा के पालनार्थ वन जा रहे हैं तो बड़ी प्रसन्नता से जायें, किन्तु मुझे भी अपने साथ

अवश्य ले जायँ।" राम ने अनेक प्रकार से समझाया, वन के कष्टों का वर्णन किया, वन-जन्तुओं का भय दिखाया, और यह भी कहा कि वनवास तो केवल उन्हें ही हुआ है। किन्तु कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सीता ने निश्चित भाव से बस यही .ह :—

"यदित्वं प्रस्थितो दुर्गम वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्।"

(वाल्मीकीय रामायण)

अर्थात् "हे राघव, यदि तुमने दुर्गम वन को जाने का आज ही निर्णय कर लिया है तो मैं भी कुशों और कण्टको को पैरों से कुचलती हुई तुम्हारे आगे-आगे जाऊँगी।" और अन्त में जब उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि

"राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत जानिये प्रान।
दीनबंधु सुन्दर सुखद सील सनेह निधान।"

(रामचरितमानस)

तब तो जैसे राम के लिए कुछ और कहना सम्भव ही न रहा। विवश होकर उन्हें सीता को अपने साथ चलने की आज्ञा देनी ही पड़ी।

किन्तु अभी राम को लक्ष्मण से और निपटना था। वह लक्ष्मण जो सदा छाया के समान बड़े भाई के साथ लगा रहता था, क्या वनवास जैसे प्रसंग पर उनका साथ छोड़ सकता

था ? राम-लक्ष्मण के बीच इस प्रसंग में हुआ संवाद महाकवि तुलसी के शब्दों में सुनिये। राम भाई को समझाते हुए कहते हैं :—

"मैं बन जाऊँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि विधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥"

लक्ष्मण क्या कहे ? बड़े भाई से मुँहजोरी की शिक्षा तो उन्होंने कभी पायी न थी। युद्ध में स्वयं यमराज से भी भिड़ जाने में समर्थ, महातेजस्वी तथा परम सुभट लक्ष्मण की भ्रातृ-प्रेमवश यह गति थी कि :—

सुनत लखनु भए व्याकुल भारी।
सिअरें बचन सूखि गए कैसे।
परसत तुहिन तामरसु जैसे॥

स्पष्ट ही लक्ष्मण को छोड़ जाना असम्भव था। राम क्या करते ? उन्हे लक्ष्मण को भी साथ लेना पड़ा।

जब राम, लक्ष्मण और सीता सबसे विदा लेकर वन के लिए चलने लगे तो क्या स्वजन और क्या पुरजन ,सभी पर शोक का जैसे पहाड़ ही टूट पड़ा। किन्तु पिता के वचन की रक्षा हेतु बड़ी से बड़ी आपदा को भी सहर्ष झेलने की भावना हृदय में सँजोये राम सबसे मिलते-बोलते, सबका यथा-योग्य सम्मान करते तथा उन्हें प्रबोध देते हुए वन-मार्ग पर चल पड़े। उनकी उस शान्त, निरुद्वेग तथा निर्विकार

चित्त-वृत्ति एवं व्यवहार का ध्यान करके ही तुलसीदास
लिखा है :—

"कीर के कागर ज्यों नृप-चीर बिभूखन, उप्पम अंगनि पाई
औघ तजी मगवास के रुंख ज्यो पंथ के साथी ज्यों लोग-लुगाई
संगसुबन्धु पुनीत प्रिया, जनु धर्म क्रिया धरि देह सुहाई
राजिव-लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नांई ॥

(कवितावल

कुछ दूर जाने पर राम ने सुमन्त सारथी को भी रथ स
लौटा दिया और आगे वन-यात्रा पर पैदल ही चल पड़े। व
पालन की कर्त्तव्य-भावना से बँधे राम, पति की सेवा त
साहचर्य की उत्कट कामना से प्रेरित सीता, तथा भ्रातृ-
में सने बन्धु लक्ष्मण ! त्याग, भक्ति और सेवा की
त्रिमूर्ति !! किसका मन और मस्तक उसकी स्मृति में श्रद्धाव
न होगा ?

सुमन्त जब खाली रथ लिये अयोध्या लौटे तो रा
दशरथ की आशा का अन्तिम-तन्तु भी जैसे टूट गया। अन्त
पुत्र-वियोग में उनका प्राणान्त हो गया। जिस समय राम
राज्याभिषेक की चर्चा चली थी, भरत और शत्रुघ्न अयोध
में न थे। वे भरत के ननिहाल गये हुए थे। गुरु वशि
ने उनके पास सन्देश भिजवाया। सन्देश पहुंचते ही वे तुर
अयोध्या के लिए चल पडे। जब वे अयोध्या से गये थे
हँसती-विहँसती अयोध्या छोड़कर गये थे, और अब जब लौ

ों वह मृत्यु सी शान्त और भयावह दिखायी दे रही था। उन्हे इस बीच, जो कुछ अयोध्या में घट चुका था, उसका कुछ भी पता न था। वहाँ लौटकर ही वह सब कुछ उन्होंने सुना और जाना। पिता की मृत्यु और राम-वन-गमन के समाचार से वे सहसा हतचेत से हो गये। यह सोच-सोच कर कि यह सब मेरे लिए ही और मेरी ही माता द्वारा किये गये दुष्प्रयत्न का फल है, भरत का हृदय विदीर्ण होने लगा। जिस समय वे राम की माता कौशल्या से मिलने गये, उस समय उनके हृदय की यह घनीभूत पीड़ा जैसे फफक कर बह पड़ी। तुलसीदास के इन शब्दो मे भरत के मन की वह वेदना साकार होकर बोल उठी है :—

"जो पै हौं मातु-मते महँ ह्वै हौं।
तो जननी जग मे या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यों हौं आजु होतु सुचि सपथनि? कौन मानि है सांची?
महिमा मृगी कौन सुकृती की, खल-बच बिसिखन बांची?"

(गीतावली)

अन्ततः उन्होने स्पष्ट शब्दों मे घोषित कर दिया कि मैं कदापि राज्य स्वीकार नही करूँगा। अयोध्या के राज्य के अधिकारी राम ही है, और वे ही रहेगे। इतना ही नहीं, वे मन्त्रियों, सम्बन्धियों तथा पुरजनो समेत राम को वन से वापस लिवा लाने के लिए भी चल पड़े।

तब तक राम चित्रकूट जा पहुँचे थे। सीता और लक्ष्मण

सहित वहीं एक पर्णकुटी बनाकर वे ऋषिमुनियों के सत्संग में अपने वनवास का समय आनन्द से बिता रहे थे। भरत भी पता लगाते-लगाते वही जा पहुंचे। भाई-भाई बड़े प्रेम से गले मिले। भरत ने राम से बहुत आग्रह किया कि आप अयोध्या लौट चलिये, किन्तु राम इसके लिए तैयार नही हुए। उन्होंने यही कहा कि जिस वचन-निर्वाह के लिए हमारे पिता ने प्राण तक त्याग दिये, उससे मुकर कर अयोध्या तो क्या समस्त पृथ्वी का राज्य भी मुझे नही चाहिये। जब राम किसी भी तरह राजी नही हुए तो भरत उनकी खड़ाऊँ लेकर अयोध्या लौट गये। उन्होंने स्वयं राज्यसिंहासन पर बैठना स्वीकार नही किया। वे राम की खड़ाऊँ को उनके प्रतिनिधि-स्वरूप सिंहासन पर रखकर उनकी ओर से राज-काज चलाते रहे। जब तक राम वन से लौट कर नहीं आये, वे राज-महलों का निवास भी छोड़े रहे। राम के वनवास की अवधि पूरी होने तक वे तपस्वियों का सा वेश बनाये नन्दिग्राम में रहे और वही से राज्य-कार्य की देखभाल करते रहे। राम के समान उनके प्रिय भाई भरत ने भी अपने महान् चरित्र से संसार के सामने भ्रातृप्रेम तथा कर्त्तव्य निष्ठा का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया।

भरत राम से चित्रकूट मे मिले थे। उसके बाद यह सोचकर कि यह स्थान अयोध्यावासियों का परिचित है इस-लिए यहां लोगों का आवागमन बना रहेगा, राम और भी

आगे दक्षिण की ओर बढ गये। चलते-चलते वे पंचवटी नामक एक अत्यन्त रमणीक वनस्थली में पहुँचे। यह स्थान प्राकृतिक दृष्टि से बड़ा सुन्दर था। अतः राम ने कुछ समय तक वहीं निवास करने का निश्चय किया। लक्ष्मण ने एक अच्छा सा स्थान चुनकर एक सुन्दर पर्णकुटी बना डाली, और सीता सहित दोनो भाई वहीं रहने लगे।

अयोध्या छोड़कर जब राम वनवासी हुए थे, तब से कई प्रसिद्ध साधु-सन्तो तथा ऋषि-मुनियो के सम्पर्क में वे आ चुके थे। भरद्वाज आदि ऋषि-मुनियों के संसर्ग से राम ने अपने को बड़ा कृतकृत्य अनुभव किया। सन्त समागम का महत्व वास्तव में है भी ऐसा ही। महाकवि तुलसीदास ने ठीक ही कहा है:—

"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अङ्ग।
तुलइ न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥"

पंचवटी मे राम-सीता और लक्ष्मण शान्तिपूर्वक निवास करने लगे। किन्तु शीघ्र ही लंकेश्वर रावण के भेजे हुए कुटिल व्यक्तियों ने वहाँ अपना जाल फैलाना प्रारम्भ कर दिया। वे राम को तरह तरह से तंग करने लगे। फलस्वरूप इनमें से कई राम के हाथों मारे गये तो कई घायल होकर रावण के पास पहुँचे। उनकी दुर्गति देखकर रावण को बड़ा क्रोध आया और व राम से बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर पंचवटी की ओर च पड़ा।

ऐसा समय तक कर कि जब राम और लक्ष्मण कहीं बाह

गये हुए थे और सीता पर्णकुटी में अकेली थी, रावण वहाँ पहुँचा। पहले तो उसने सीता को अपना प्रभाव दिखाकर अपने वश में करने का प्रयत्न किया। जब इसमें सफलता नही मिली तो उसने उन्हे अपने बल और पराक्रम के वर्णन से डराना चाहा, किन्तु उसका यह प्रयास भी निरर्थक गया। अन्त मे खीझ कर वह सीता को बलपूर्वक उठा कर ले भागा।

पर्णकुटी पर लौटकर जब राम और लक्ष्मण ने सीता को वहाँ नही पाया तो वे बड़े चिन्तित हुए। वन का कोना-कोना उन्होंने छान डाला, पर कही सीता का पता नही मिला। ढूँढ़ते-ढूँढते वे ऋष्यमूक नामक पर्वत के निकट जा पहुँचे। इस पर्वत पर किष्किधापति बालि के भय से उसका छोटा भाई सुग्रीव अपने चार विश्वासपात्र सहायकों के साथ आकर रहता था। राम ने सुग्रीव से भेंट की। दोनों ने एक दूसरे को अपनी-अपनी विपदा कह सुनायी। सुग्रीव ने बताया कि किस प्रकार उसके बड़े भाई बालि ने किसी बात पर रुष्ट होकर उसे मारा-पीटा तथा उसका सर्वस्व छीन कर उसे राज्य से बाहर निकाल दिया। यहाँ तक कि उसकी पत्नी भी उससे छीन ली गयी। राम ने सुग्रीव को उसके बड़े भाई के अत्याचार से मुक्ति दिलाने का वचन दिया, और उधर सुग्रीव ने भी उन्हे यह आश्वासन दिया कि वह सीता की खोज में उनकी पूरी-पूरी सहायता करेगा। राम ने पहले सुग्रीव को स्वयं ही एक बार बालि के पास जाने के लिए

प्रेरित किया। वह गया भी किन्तु कोई शुभ परिणाम नहीं निकल सका। उल्टे कुट-पिट कर ही वह वापस आया। अन्त में राम ने स्वयं धनुष सँभाला। किष्किधापति बालि कोई साधारण योद्धा न था। एक बार स्वयं लंकेश्वर रावण भी उससे हार चुका था। राम ने चातुरी से काम लिया, और बालि का वध कर डाला। सुग्रीव का संकट दूर हो गया। इतना ही नही, वह अब किष्किधा का राजा भी बन गया।

मित्र-भाव से की गयी राम की प्रतिज्ञा पूरी हुई। अब सुग्रीव की बारी थी। सुग्रीव ने राम की इस महती सहायता के लिए उनका अतिशय आभार माना किन्तु राम बराबर यही कहते रहे कि मित्र-भाव से किये गये काम मे भला आभार की क्या बात है ? मित्र का कर्त्तव्य है कि समय पडने पर अपने मित्र की शक्तिभर पूरी तरह सहायता करे तथा अपने मित्र के सुख को अपना सुख तथा उसके दु ख को अपना दु ख समझे। तुलसीदास ने सच्ची मित्रता की इस भावना को अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ रामचरितमानस में बड़ी सुन्दरता से इन शब्दो मे व्यक्त किया है :—

"जे न मित्र दुख होंहि दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्र के दुख रज मेरु समाना।।'

सुग्रीव ने सीता की खोज के लिए स्थान-स्थान पर अपने

दूत रवाना किये। इनमें हनुमान, अङ्गद, जाम्बवन्त आदि कुछ चुने हुए व्यक्ति दक्षिण दिशा की ओर भेजे गये, क्योंकि प्राप्त संकेतों के आधार पर सीता का पता कही उधर ही लगने की अधिक आशा थी। राम ने हनुमान को अपनी अंगूठी भी दे दी थी कि वे उसे चिन्ह के रूप में सीता को दे दें। मार्ग में जाते हुए इस दल को यह भी पता लग गया कि सीता का हरण कर लंकेश्वर रावण उसे समुद्र पार अपनी पुरी में ले गया है। इस सूचना के मिलने पर सबने हनुमान को वहाँ जाकर सीता का ठीक-ठीक पता लाने के लिए चुना। हनुमान लंका गये और ढूंढ़ते-ढूंढते उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ अशोक-वाटिका में एक वृक्ष के नीचे सीता उदास बैठी थीं। रावण ने लंका मे लाकर उन्हें एक प्रकार से वहाँ कैद कर रखा था। हनुमान ने उन्हें राम का संवाद सुनाया तथा अपनी पहचान के रूप में राम की दी हुई मुद्रिका भी उन्हें सौंप दी।

हनुमान के लौट कर आने पर राम-लक्ष्मण को सीता के सम्बन्ध में ठीक-ठीक समाचार प्राप्त हुए। फिर क्या था ? लंका पर चढाई की तैयारियाँ होने लगी। सुग्रीव ने अपनी समस्त सेना लेकर राम के साथ कूच किया। सुग्रीव के अतिरिक्त हनुमान, अङ्गद, जाम्बवन्त, नल-नील आदि कई अन्य योद्धा भी साथ थे। तीव्र वेग से चल कर यह विजय-वाहिनी बहुत शीघ्र लंका जा पहुँची। राम-रावण युद्ध आरम्भ हुआ। रावण की ओर से भी उसके योग्य से योग्य योद्धा इस युद्ध में सम्मिलित

हुए। घोर युद्ध हुआ। एक-एक कर रावण के सभी प्रमुख योद्धा युद्ध में काम आये। उसका महापराक्रमी पुत्र मेघनाद लक्ष्मण के हाथों तथा विकराल महायोद्धा भाई कुम्भकर्ण राम के हाथ मारा गया। अन्त में वह समय भी आ पहुँचा, जब राम औ रावण स्वयं एक दूसरे के सामने थे। राम और रावण के बी हुआ यह युद्ध अप्रतिम था। उसकी उपमा मिलना कठिन है अन्ततः युद्ध समाप्त हुआ। रावण अपने सम्पूर्ण पराक्रम औ रण-कौशल के उपरान्त भी राम से पार न पा सका। वह यु में खेत रहा।

इसी समय राम के वनवास की अवधि भी समाप्त गयी। लंका का राज्य रावण के छोटे भाई विभीषण को, रावण की नीति का विरोध करने के कारण लंका से निक दिया गया था और राम की शरण मे आ गया था, देकर सी और लक्ष्मण सहित राम अयोध्या के लिए चल पड़े। भ पहिले ही एक-एक दिन गिन कर अवधि की समाप्ति की प्रत कर रहे थे। अवधि का अन्तिम दिन भी बीता और राम अयो लौटे। चौदह वर्ष बाद आज अयोध्या में पुन. दीपावली आ भाई-भाई से मिले। माताओ को अपने लाल मिले। अयो को अपने हृदय-सम्राट् मिल गये।

लोकानुरागी राम बड़े उत्साह से राष्ट्र की सेवा में हुए। अपनी विलक्षण योग्यता और कर्म-तत्परता से उ राज्य को थोड़े ही दिनो में उन्नति के शिखर पर पहुँचा दि

म राज्य एक आदर्श राज्य हो गया। राम जैसे स्वयं संयमी, 'दाचारी और कर्त्तव्य-परायण थे, वैसे ही उनके प्रजाजन भी गये। राम-राज्य का वर्णन करते हुए महाकवि वाल्मीकि ने खा है कि उस राज्य में सभी नियम-संयम से अपने-अपने र्त्तव्य का पालन करते थे और परस्पर भाई-भाई की तरह प्रेम रहते थे। कोई किसी के साथ ईर्ष्या-द्वेष या दुर्व्यवहार नही रता था। सब स्वावलम्बी तथा परोपकारी थे। रोग-शोक कही नाम भी नही था। लोग हृष्ट-पुष्ट थे तथा चिन्ता-शोक मुक्त होकर दीर्घ-जीवन का पूरा आनन्द भोगते थे। किसी अकाल-मृत्यु नही होती थी। राज्य मे कही भी किसी ार का कलह, उपद्रव या स्वेच्छाचार नही था। राम ने ट्रीय चरित्र की मर्यादा स्थापित कर सर्वोन्नति का द्वार ि न दिया था। इससे राष्ट्र की शक्ति, सम्पदा और सभ्यता दिन-प्रतिदिन उन्नति होती गयी तथा लोग बहुत वर्षो तक के सुराज्य का सुख-वैभव भोगते रहे। राम-राज्य में किसी र की अनैतिकता, अत्याचार या अन्याय का कही नाम तक ा। 'यथा राजा तथा प्रजा।'

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहि काहुहि व्यापा।।

—'तुलसी'

: २ :

# योगेश्वर कृष्ण

भारत-भूमि मे जन्मा कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसने योगेश्वर कृष्ण का नाम न सुना हो ? "कृष्णं वन्दे जगद्गुरु" कहकर देश की सर्वश्रेष्ठ विभूतियों ने उनके प्रति अपना आदर प्रकट किया है। कृष्ण की विविध कथाओं को अपनी साहित्य-रचनाओं का आधार बनाकर न जाने कितने कवियों ने अपनी कवित्व-शक्ति को सफल बनाया है। न जाने कितने कलाकारो ने कृष्ण की विविध लीलाओं के सुन्दर चित्र बनाकर अपनी तूलिका को धन्य किया है।

रामचन्द्र के समान श्रीकृष्ण भी करोड़ों भारतवासियों के श्रद्धा और भक्ति के पात्र रहे है। इसलिए उनके जीवन की वास्तविक घटनाओ का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। उनके जीवन के सम्बन्ध मे जो कहानियाँ प्रचलित है उनमें बचपन से लगाकर अन्त तक कई आश्चर्यजनक घटनाएं भरी पड़ी है। कृष्ण-जन्म के बाद वसुदेव का कारागार से निकलना तथा बाढ से उफनती यमुना की जलधारा को तैर कर पार करना, कृष्ण का कालियादह मे नाग से लड़ना तथा शकटासुर आदि भयानक शक्तिशाली मनुष्यों का संहार करना असाधारण घटनाएँ हैं, फिर भी कृष्ण की जीवन-लीला, उनका दुष्टो से लड़ना और सज्जन

की रक्षा करना, उनकी राजनीतिक ~~दक्षता~~ क्षमता और सबसे अधिक उनका गीता द्वारा दिया हुआ कर्मयोग का संदेश भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। और इसलिए प्रत्येक विद्यार्थी के लिए श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र एक महान् प्रेरणादायक अध्ययन सिद्ध हो सकता है।

जन्मे कहाँ कृष्ण? मथुरा के एक कारागार में। उनके पिता वसुदेव और माता देवकी कृष्ण के मामा कस के बंदीगृह में कैद थे। किसी ने भविष्यवाणी की थी कि "देवकी के गर्भ से उत्पन्न आठवी सन्तान के हाथो कंस की मृत्यु होगी।" इसी आशंका से अत्याचारी कस ने अपनी बहिन देवकी और उसके पति वसुदेव को कारागार में डाल दिया था। वह एक-एक कर उनके सात पुत्रों का जन्मते ही वध कर चुका था। जब आठवीं सन्तान के जन्म का समय निकट आया तब तो उसकी दुश्चिन्ता की कोई सीमा न रही। उधर वसुदेव-देवकी के हृदय पर क्या बीत रही थी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। ज्यो-ज्यों प्रसव का समय निकट आ रहा था, उनके प्राण सूखे जा रहे थे। वे अपनी इस अन्तिम सन्तान की रक्षा के लिए सब कुछ करने को तैयार थे। किन्तु क्या करे? सोचते-सोचते अन्ततः उन्हे एक मार्ग सूझ पड़ा।

भाद्रपद कृष्णा अष्टमी बुधवार की अर्ध-रात्रि का समय था। देवकी ने आठवीं सन्तान के रूप में कृष्ण को जन्म दिया।

वसुदेव चुपचाप उठे और शिशु को लिए किसी तरह कारागार से बाहर हो गये और यमुना-किनारे आ पहुँचे। यमुना को पार करना कोई सहज बात न थी। अँधेरी रात और निरन्तर वृष्टि के परिणामस्वरूप उफन उफन कर बहती हुई यमुना की जल धारा ! कही थाह का नाम नही। किन्तु ठिठकने का अवकाश कहाँ ? वसुदेव जल मे धँस पड़े। पैरते-पारते किसी तरह उस पार लगे और शीघ्रता से नन्दगाँव की ओर चल दिये। नन्दगांव में सन्नाटा छाया हुआ था। वसुदेव अपने मित्र नन्द के द्वार पर पहुँचे। नन्द ने बड़े स्नेह और उत्साह के साथ अपने बाल-बन्धु का स्वागत किया। वसुदेव ने अपना प्रयोजन कहा। नन्द ने सहर्ष कृष्ण के लालन-पालन का भार अपने ऊपर ले लिया। किन्तु तभी उन्होने सोचा कि यदि वसुदेव खाली हाथ लौटेंगे और सवेरा होने पर कंस को ज्ञात होगा कि देवकी अपनी आठवी सन्तान को जन्म दे चुकी, किन्तु वह सन्तान वहाँ नही है तो वह वसुदेव-देवकी को भी जीवित नहीं छोड़ेगा। वे भीतर गये और शिशु कृष्ण को अपनी पत्नी की शय्या पर लिटा कर, उसी दिन उसने भी जिस एक कन्या को जन्म दिया था उसे अपनी बाहो में लिये बाहर आ गये। उसे वसुदेव को देकर उन्होने कहा कि इसे ही तुम अपनी आठवी सन्तान के नाम से घोषित कर देना। वसुदेव झिझके, किन्तु यह सोचकर कि शायद पुत्र के स्थान पर पुत्री को देखकर कंस का विचार बदल जाय, वे उसे लेकर उल्टे पाँव मथुरा लौट आये।

कंस को देवकी के गर्भ से आठवीं सन्तान के जन्म का समाचार मिला। वह तुरन्त भागा हुआ आया। देवकी ने रो-रोकर उसे, जो उसका सगा भाई था, बहुत-बहुत रोका, मनाया समझाया कि यह तो कन्या मात्र है। इससे भला तुम्हारा क्या अहित हो सकता है? वसुदेव ने भी उससे बड़ी-बड़ी विनतियां की, किन्तु उसने एक न मानी। उस फूल-सी सुकुमार कन्या को उसने उठाया और पत्थर पर दे मारा। वसुदेव और देवकी वज्राहत से देखते रह गये। कंस ने एक पैशाचिक अट्टहास किया। बोला—"देखें, अब मेरा कौन क्या बिगाड़ सकता है? अपने परम शत्रु को मैंने पहले ही समाप्त कर डाला है।" किन्तु न जाने कैसे, उसे मन ही मन ऐसा लगा कि दाल में कुछ काला है और हो न हो, उसका संहारक कही न कहीं जन्म ले चुका है। अपनी अस्त-व्यस्त मानसिक अवस्था में उसे यह भी प्रतीत हुआ, जैसे उस नवजात कन्या की आत्मा शरीर से मुक्त होकर उसे यह कहती गयी कि "दुष्ट, मुझे मारकर तुझे कोई लाभ नही होने का। तेरा शत्रु तो जीवित और सकुशल है।" कंस की विचित्र दशा थी, किन्तु उपाय क्या था? जो कुछ वह कर सकता था, कर चुका था। उसका दुर्भाग्य कि एक नही, दो नहीं आठ-आठ शिशुओं की हत्या करने के बाद भी उसकी मानसिक चिन्ता नही मिट सकी।

उधर कृष्ण नन्द के यहाँ बड़े लाड-प्यार से पलने लगे। नन्द-यशोदा के कोई और सन्तान थी नहीं। अपने हृदय के

लार का सारा कोष उस दम्पति ने कृष्ण पर ही उँड़ेल
ाया। कृष्ण भी कोई साधारण बालक न थे। उनका रूप,
नकी चेष्टाएं, उनकी बाल-क्रीडाएं न केवल स्वजनों को
रन् समस्त ग्राम-वासियो को मोह रही थी। सारा गोकुल-
ाँव उन पर रीझ पडा था। वे सबकी आंखो के तारे थे।
यों-ज्यों वे बड़े होते गये, ग्रामवासियो का उनके प्रति अनु-
ाग भी बढ़ता गया। आयु पाकर रूप के साथ-साथ उनके
ल-पराक्रम तथा अद्भुत कार्य-कोशल का भी विकास होने
ागा। अपने पराक्रम से वे गोकुल के गोप-समाज के अग्रणी
ाने जाने लगे।

बाल्यकाल में ही कृष्ण द्वारा किये गये साहसी कार्यों
समाचार कंस के पास भी पहुँच रहे थे। इन समाचारों ने
से कृष्ण की ओर से बहुत सशक बना दिया। उसने छल
ा बल किसी भी युक्ति से उन्हे मरवा डालने का प्रयत्न
ारम्भ कर दिया। शकटासुर, तृणावर्त तथा बकासुर जैसे
पने दुर्दमनीय साथियों को उसने भेप बदलवा कर गोकुल
जा। अपने साथी ग्वाल-बालो के साथ वन मे विचरते हुए
ालकृष्ण पर उन्होने घात लगा-लगाकर आक्रमण किये
किन्तु कृष्ण की चातुरी और पराक्रम के आगे उनकी एक न
ली। इतना ही नही, एक-एक करके वे सभी कृष्ण के हाथो
ारे गये। अपने सभी प्रयत्नो को इस प्रकार निष्फल होते
खकर कंस की चिन्ता और व्यग्रता का कोई ठिकाना न
हा। इसी बीच कृष्ण की निर्भीकता और वीरता की एक

और कहानी उसे सुनने को मिली। यमुना-तट के समीप ही जहाँ गोकुल के ग्वालबाल अपनी गौएँ चराने जाया करते थे, एक भयंकर 'दह' था, जो 'कालियादह' के नाम से प्रसिद्ध था। उसमें रहने वाले एक भयंकर विषधर सर्प से सभी आतंकित थे। एक दिन ग्वाल-बालों के साथ खेलते-खेलते कृष्ण के हाथ से उनकी गेंद उस दह में जा पड़ी। किसमें सामर्थ्य थी कि उस दह में कूदकर गेंद निकाल लाये? किन्तु कृष्ण को ऐसा करते हुए एक क्षण भी नहीं लगा। वे तुरन्त उस दह में कूद पड़े। सर्प के लिए यह बड़ी भारी चुनौती थी। वह फुफकारता हुआ उनकी ओर दौड़ा, पर वाह रे कृष्ण! उन्होंने उसे पकड़ कर ऐसी-ऐसी पटकियाँ दीं कि सर्पदेव जी डोल गये। उनका सारा अहंकार और क्रोध काफ़ूर हो गया। जबड़ों से रक्त की धार बह निकली। उधर कृष्ण के कालियादह में कूदते ही ग्वाल-बालों में हाहाकार मच गया। कुछ ग्वाल-बाल गाँव में दौड़े गये। समाचार सुनते ही नन्द-यशोदा और उनके पीछे सैकड़ों ब्रजवासी कृष्ण के प्रेम से खिंचे वहाँ चले आये। कोई रो रहा था, तो कोई चिल्ला रहा था।

सब लोग तो क्रन्दन करते रहे, किन्तु बलराम, जो कृष्ण की सौतेली माँ के पुत्र थे और आयु में उनसे कुछ बड़े भी थे, साहस करके आगे बढ़े और दह में झाँक कर देखने लगे। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उन्होंने देखा कि कृष्ण ने उस महासर्प के फन पर आसान पर आसान कर

उसे बिल्कुल ठण्डा कर दिया है। उन्होने यह सवाद सभी ब्रज-वासियो को सुना दिया। हर्ष का पारावार उमड़ पड़ा। दोनों भाइयों को आगे कर सब ब्रजवासी गाते और हर्ष से नाचते हुए अपने-अपने घर लौट आये।

कृष्ण के बढते हुए प्रभाव के सम्बन्ध मे सुन-सुन कर कस के देवता कूच कर रहे थे। कृष्ण को नीचा दिखाने अथवा उन्हे समाप्त करा डालने के अपने सभी प्रयत्नो मे वह अब तक बुरी तरह असफल रहा था। अब उसने और भी निकृष्ट कोटि की कूटनीति का आश्रय लिया। उसने अक्रूर को अपना प्रतिनिधि बनाकर गोकुल भेजा और एक यज्ञ में सम्मिलित होने के वहाने कृष्ण और बलराम को मथुरा लिवा लाने के लिए कहा। अक्रूर कस की प्रकृति भली प्रकार जानता था किन्तु कंस के आदेश की अवज्ञा करना भी सहज न था। निरुपाय होकर वह गोकुल गया, और नन्द बाबा को कस का सन्देश कह सुनाया। कृष्ण और बलराम ने तो तनिक भी संकोच प्रकट नही किया। वे निर्भयतापूर्वक तुरन्त मथुरा के लिए प्रस्थान करने को उद्यत हो गये। किन्तु नन्द-यशोदा तथा अन्य व्रजवासियों के हृदय आशंका से धडक उठे। कंस को आज्ञा लौटा देने का साहस तो वे कैसे करते? अस्तु, कृष्ण-बलराम के साथ कई गोकुल-वासी स्वयं भी मथुरा के लिए चल पड़े।

कृष्ण के आने के पूर्व ही कस ने अपना षड्यन्त्र पक्का

कर लिया। जिस सभा-भवन मे जाकर कृष्ण-बलराम को कंस से भेंट करनी थी, उसके द्वार पर उसका प्रसिद्ध हाथी कुवलियापीड़ आक्रमण के लिए तैयार खड़ा था। कंस ने उसके महावत को गुप्त रूप से कहला दिया था कि यदि उसका हाथी दोनों कुमारों को जान से मार डालेगा तो उसे खूब पारितोषिक मिलेगा और यदि न मार सका तो हाथी और महावत दोनो को मृत्यु-दण्ड मिलेगा। उधर सभा-भवन मे चाणूर, मुष्टिक और तोशल नाम के तीन प्रचण्ड पहलवान उपस्थित थे। उन्हें भी कंस द्वारा यह गुप्त संकेत मिला हुआ था कि यदि कृष्ण-बलराम कुवलियापीड से किसी प्रकार बच जावें तो वे उन्हें मल्ल-युद्ध में पछाड़ कर सदा के लिए सुला दे। कंस ने अपनी समझ में तो यह सब व्यवस्था कर ली थी किन्तु होना कुछ और ही था।

कंस की कपट-नीति से कृष्ण-बलराम भी अपरिचित तो थे नहीं, किन्तु उन्हें अपने साहस, बुद्धि और पराक्रम पर भरोसा था। अतः वे निश्चिन्त होकर कंस के सभा-भवन की ओर चल पड़े। द्वार पर पहुँचे ही थे कि महावत की प्रेरणा पाकर दुष्ट हाथी ने उन पर आक्रमण कर दिया। कृष्ण ने तुरन्त स्थिति को समझा और पैंतरा बदल कर हाथी की सूंड पर प्रहार किया। हाथी ने अपना पूरा बल लगाया किन्तु कृष्ण और बलराम की मार के आगे उसकी एक न चली। चिंघाड़ते हुए वह पृथ्वी पर बैठ गया और कुछ देर तड़प कर मर गया।

अब कृष्ण-बलराम सभा-भवन में पहुँचे। उन्हे यह भली प्रकार विदित हो चुका था कि यज्ञ के नाम पर आमन्त्रण केवल धोखा था। कंस ने उन्हे यहाँ केवल इसलिए बुलाया था कि किसी प्रकार वह उनकी जीवन-लीला समाप्त कर डाले। वे चौकन्ने किन्तु निर्भय भाव से कंस के सामने जा खड़े हुए। कंस ने उनसे कहा कि तुम दोनो अपने बल के लिए बहुत प्रसिद्धि पा चुके हो। आज इस सभा के सामने हमारे पहलवानों के साथ तुम्हारा मल्ल-युद्ध होगा। चाणूर, मुष्टिक और शल-तोशल नामक कंस के पहलवान वहाँ उपस्थित थे ही। कृष्ण चाणूर से और बलराम मुष्टिक से जा भिड़े। कंस आशा से, यादव भय से और अन्य दर्शक आश्चर्य से यह संघर्ष देखने लगे। चाणूर और मुष्टिक नामी पहलवान थे, किन्तु कृष्ण और बलराम के सामने वे टिक न सके। थोड़ी ही देर के संघर्ष मे वे ढीले पड़ने लगे और दोनो ही कृष्ण-बलराम के प्रबल पराक्रम के आगे दम तोड़ते दिखायी दिये। चाणूर और मुष्टिक के पश्चात् कृष्ण-बलराम शल-तोशल से जा भिडे और शीघ्र ही उन्होंने उन दोनो को भी यमलोक का मार्ग दिखा दिया।

अपनी समस्त आशाओ पर पानी फिरा देखकर अब तो कंस कांप उठा। उधर वसुदेव और देवकी कुछ समय पहले तक तो भय के मारे कांप रहे थे। अब उनकी आँखो से आनन्दाश्रु बरसने लगे। कंस की धूर्तता, दुष्टता और निष्ठु-

रता की अति हो चुकी थी। उसे अब और अवसर देना कृष्ण को उचित नही लगा। उधर भय और निराशा मे डूबा कस अपने होश-हवास खो रहा था। जब उससे और कुछ न बन पडा तो वह कृष्ण और बलराम का नाम ले-लेकर गालियाँ बकने लगा। कृष्ण कुछ क्षण खड़े यह कौतुक देखते रहे। फिर कूद कर सिंहासन पर बैठे हुए कस के लम्बे-लम्बे केशो को हाथ से पकड कर उन्होने ऐसा झटका दिया कि वह बल का अभिमानी राजा लोथ की तरह लुढक कर भूमि पर आ गिरा। केश फिर से पकड कर घसीटते हुए कृष्ण ने उस अत्याचारी को रगमच के कई चक्कर दिये और अन्त में उसके रक्त और धूल से सने हुए शरीर को उठा कर मच के मध्य फेक दिया।

कस के वध का समाचार दावानल की भाँति बड़ी शीघ्रता से चारो दिशाओ मे फैल गया। योद्धाओ की प्रचलित पद्धति के अनुसार यही समझा गया कि कस को मार कर अब कृष्ण स्वय मथुरा के राजसिंहासन पर आसीन हो जायँगे किन्तु यदि मथुरा तीन लोक से न्यारी थी तो कृष्ण की लीला उससे भी न्यारी थी। कंस के पिता उग्रसेन ने आँखो मे आँसू भर कर श्रीकृष्ण से प्रार्थना भी की कि "हे वीर, आप अपने बाहुबल से जीते हुए मथुरा के राज्य का सुखपूर्वक उपभोग करो। मै तो केवल इतना चाहता हूँ कि मुझे अपने पुत्र की अन्तिम क्रिया करने का अवसर दे दिया जाय।" उग्रसेन की इस प्रार्थना का कृष्ण ने जो उत्तर दिया वह उनके

निस्पृह जीवन का एक उज्ज्वल उदाहरण है। उन्होंने नम्रता पूर्वक उग्रसेन से कहा 'मैंने राज्य की इच्छा से कस को नही मारा। मैंने तो उसे केवल लोकहित के लिए मारा है। मथुरा का राज्य आपका है, मैं उसे आपको ही सौपता हूँ।"

इस घटना के बाद कृष्ण अपने पिता वसुदेव और माता देवकी से मिले। जन्म के बाद ही जिस पुत्र से उन्हें बिछुड़ जाना पड़ा था, उससे आज इस रूप मे मिलकर उनके हृदय मे कैसे भाव उठे होगे, इसको तो कल्पना ही की जा सकती है।

कस-वध के साथ श्रीकृष्ण के जीवन का एक अध्याय समाप्त हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीडक कस को समाप्त कर कृष्ण ने मथुरा का राज्य पुन. उग्रसेन को ही सौप दिया। इस समय तक वे तथा उनके बड़े भाई बलराम किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना-तट पर प्रकृति के विश्व-विद्यालय में स्वच्छन्द वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वाल-वालों के बीच उन्होने जीवन की एक वडी तैयारी कर ली थी, परन्तु बौद्धिक विकास का पर्य्याप्त अवसर अभी उन्हे नही मिला था। इस कमी की पूर्ति के लिए वे सान्दीपनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। इन्ही गुरु के आश्रम मे रहते हुए श्रीकृष्ण का अपने एक गुरुभाई सुदामा के साथ वह चिरमित्रभाव स्थापित हुआ जो कि युग-युग के लिए सच्ची मित्रता का एक अनुकरणीय उदाहरण बन गया।

विद्याध्ययन समाप्त होते न होते कृष्ण को पुनः अनेकानेक

राजनीतिक समस्याओ मे उलझना पड़ा। मगध का राजा जरासन्ध कंस का साला था। उसने जब यह सुना कि कृष्ण ने कंस को मार दिया है तो उनसे बदला लेने के लिए उसने मथुरा पर चढ़ाई कर दी। बलराम और कृष्ण की सेना से जरासन्ध की विशाल वाहिनियों का घमासान युद्ध हुआ। अन्त मे जरासन्ध को पराजित होकर रणक्षेत्र से हट जाना पड़ा। वह अपनी घायल और हारी हुई सेना को घसीटता हुआ मगध देश को वापस चला गया। यही से कृष्ण की लोक-हित मे किये गये युद्धों की वह शृङ्खला प्रारम्भ होती है, जिसने उन्हे असुरारि, मुरारि आदि वीरता सूचक नामों से प्रसिद्ध किया।

इस आशका से कि मथुरा के समीप रहने से कही व्यर्थ के राजनीतिक संघर्षो मे और न फंस जाना पडे, कृष्ण अपने साथियो को लेकर पश्चिमी समुद्र के किनारे एक सुन्दर द्वीप मे जा बसे, जहाँ अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का प्रयोग कर उन्होने संसार को चकित करने वाली द्वारिकापुरी का निर्माण किया। परन्तु वहाँ जाकर भी वे ससार की ओर से निश्चिन्त नही हो गये। देश के किसी भी भाग मे किसी भी आततायी द्वारा किन्ही सज्जनो को या वहां की प्रजा को कष्ट दिये जाने की सूचना पाते ही वे कभी अकेले और कभी सेना सहित वहाँ चढाई कर देते और अत्याचारी का सहार कर उसके किसी योग्य सम्बन्धी को राजगद्दी पर बिठा देते। उन्होंने इस प्रकार कई आततायियों का सहार किया और अनेक राजसिंहासन

रिक्त किये, परन्तु कभी किसी के राज्य अथवा वैभव का एक कण भी उन्होंने अपने पास नही रखा। जिन आततायी शत्रुओं के सिर उन्होंने अपने सुदर्शन चक्र से काट-काट कर गिराये, उनकी सूची बहुत लम्बी है। शृगाल, कालयवन, रुक्मी, नरक, निकुम्भ, वज्रनाम आदि कई प्रचंड अत्याचारियों तथा लोक-शत्रुओं का नाश करने के अतिरिक्त बाणासुर जैसे अनेक अजेय समझे जाने वाले योद्धाओ को भी उन्होंने परास्त कर दिया।

कृष्ण मित्रता निभाने के लिए भी बड़े प्रसिद्ध थे। उनकी अर्जुन के प्रति मित्रता आदर्श मानी जाती है। उनके निरहंकार स्वभाव तथा निस्वार्थ मैत्री-भाव का दूसरा उदाहरण हमे कविवर नरोत्तमदास रचित 'सुदामाचरित' मे मिलता है। सान्दीपनि गुरु के पास सुदामा और श्रीकृष्ण साथ-साथ पढ़े थे। श्रीकृष्ण अपने अद्भुत पराक्रम तथा बुद्धिबल से द्वारिकाधीश की स्थिति तक जा पहुँचे। उधर सुदामा सात्त्विक ब्राह्मण-वृत्ति से अपना जीवन-यापन करते रहे। परिस्थितियों की मार कुछ ऐसी रही कि सुदामा को बडी गरीबी के दिन देखने पड़े। उनकी पत्नी को ज्ञात था कि सुदामा श्रीकृष्ण के सहपाठी रहे है। अतः वह प्रायः उन्हे कृष्ण के पास जाने के लिए कहती रहती थी। स्वभाव से सकोची सुदामा को यह बात नही जँचती थी। किन्तु अन्ततः प्रेमपूर्ण आग्रह की विजय हुई और सुदामा द्वारिका के लिए चल पड़े। सोचते जाते थे कि बदली हुई परिस्थितियों में न जाने

श्रीकृष्ण मुझ से कैसा व्यवहार करेंगे। यों ही संकल्प-विकल्प करते-कराते किसी प्रकार वे द्वारिकापुरी जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने उस पुरी का जो ठाठ-बाट देखा उससे उनका रहा-सहा साहस भी जाता रहा। न जाने कैसे साहस बटोर कर वे कृष्ण के द्वार तक पहुँच पाये। किन्तु यह क्या ? सुदामा के आगमन का समाचार पाकर कृष्ण तो ऐसे दौड़े जैसे वे न जाने कब से इसी संवाद की प्रतीक्षा कर रहे थे। कविवर नरोत्तमदास के शब्दों मे :—

"बोल्यो द्वारपाल सुदामा नाम पांडे सुनि
छाँड़े राज-काज ऐसे, जी की गति जानै को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि, दौरि गहे पायें,
भेंटे लपटाय करि, ऐसे दुख सानै को ?
नैन दोउ जल भरि, पूँछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यो—'बिपदा में मोहिं पहिचाने को ?
जैसी तुम कीनी तैसी करै को कृपा के सिन्धु,
ऐसी प्रीति, दीनबन्धु, दीनन सो मानै को' ?"

उच्च पद पाकर मद किसे नही आ जाता ? किन्तु संसार में कृष्ण जैसे कुछ महापुरुष निकल ही आते हैं, जिन पर पद, धन, शक्ति या विद्या आदि किसी का भी मदोन्मत्तकारी प्रभाव नहीं पड़ पाता। सुदामा जैसे अकिंचन ब्राह्मण के साथ भी श्रीकृष्ण ने अपने मैत्री-भाव को जिस सच्चाई और निष्ठा के साथ निभाया, वह अपने आप में सच्ची मित्रता का एक अप्रतिम उदाहरण है और इसीलिए श्रीकृष्ण के उस परम

उदात्त चरित्र को जानने और समझने वाले व्यक्ति को तनिक भी आश्चर्य नही होता जब वह उसी कवि (नरोत्तमदास) के शब्दों मे सुदामा की दीनदशा पर उन्हे इस प्रकार आठ-आठ आँसू बहाते देखता है —

"ऐसे बिहाल बिवाइन सौं पग, कंटकजाल लगे पुनि जोये—
हाय ! महादुख पाये सखा तुम आये इतै न किते दिन खोये ?
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सो पग धोये ॥"

किस प्रयोजन से सुदामा द्वारिकापुरी आये थे, यह श्रीकृष्ण भली प्रकार जानते थे, किन्तु कोई भी सहायता-रूप भेंट सीधे ही सुदामा के हाथों मे रखने पर उन्हे स्वभावतः सकोच होता, अतः श्रीकृष्ण ने जान-बूझ कर वैसा नही किया। प्रेम से मिले और प्रेम से विदा कर दिया, किन्तु जब तक सुदामा लौटकर घर पहुँचे, तब तक वहाँ उन्होने सभी व्यवस्था करा डाली। सुदामा ने घर आकर क्या पाया, इसको एक सक्षिप्त झलक एक बार पुनः कविवर नरोत्तमदास के शब्दो मे ही देखिये —

"कै वह टूटी-सी छानी हुती कहँ कंचन के सब धाम सुहावत।
कै पग मे पनही न हुती कहँ ले गजराजहु ठाढ़े महावत ॥
भूमि कठोर पै रात कटै कहँ कोमल सेज पै नींद न आवत।
कै जुरतो नहिं कोदों सवां प्रभु के परताप तें दाख न भावत ॥"

हीनावस्था मे भी मित्र के साथ पूर्ववत् समभाव से

बरतने वाले, उसकी संकटापन्न अवस्था से इस प्रकार द्रवित और मर्माहत हो जाने वाले, तथा उसके आत्म-सम्मान और आत्मगौरव की भावना को तनिक भी ठेस लगाये विना उसको यथोचित सेवा-सहायता कर देने वाले श्रीकृष्ण की उस महान् मैत्री जैसा उदाहरण और कहाँ मिलेगा ?

आगे चलकर स्वकुल की विविध राजनीतिक उलझनों को सुलझाने के साथ-साथ श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर तथा इंद्रप्रस्थ की राजनीति मे भी सक्रिय भाग लेना पड़ा। एक बार वसुदेव और उग्रसेन कृष्ण-बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गये थे। वहाँ पाण्डवों की माता कुन्ती भी अपने पुत्रो सहित आयी हुई थी। बस, यही कृष्ण और पाण्डवो के वीच उस घनिष्ठ सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ कि जिसके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ का एक साथ स्मरण करते है। कृष्ण को राजनीतिक बुद्धि निस्सन्देह बड़ी अद्‌भुत थी। महाभारत-युद्ध का निश्चय हो जाने पर जब पाण्डवो को ओर से अर्जुन और कौरवो की ओर से दुर्योधन उनके पास सहायता माँगने पहुँचे तो जहाँ दुर्योधन ने उनकी विशाल सेना को सहायता के रूप में प्राप्त कर अपने आप को अधिक बलशाली माना, वहाँ अर्जुन केवल निश्शस्त्र श्रीकृष्ण को पाकर ही संतुष्ट और प्रसन्न थे। अपने इस चुनाव की चर्चा करते हुए अर्जुन ने ठीक ही कहा था कि "युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनन्दन करे, वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा,

तः यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण मे से एक को लेना ड़े तो मैं कृष्ण को ही लूंगा।" कारण स्पष्ट था। कृष्ण की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता अनुपम थी। उनकी पारदर्शिनी राजनीतिक बुद्धि को लक्ष्य में रखकर ही एक बार धृतराष्ट्र ने भी यह मत व्यक्त किया था कि "जब तक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और गाण्डीव धनुष—ये तीन तेज एक साथ है, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी सेना होने पर भी कौरवों की विजय असम्भव है।"

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक अति दारुण घटना है। इस युद्ध में दोनों ही पक्षो के भारत के श्रेष्ठतम वीर खेत रहे। देश की सर्वोत्तम प्रतिभा का व्यापक संहार इस युद्ध के कारण हुआ। कृष्ण इस युद्ध के भीषण परिणाम को जानते थे। अतः उन्होंने इस युद्ध को रोकने के लिए जो कुछ सम्भव था, वह सब किया। और तो और, वे स्वयं पाण्डवों की ओर से दूत बनकर कौरवों की सभा में गये और उन्हे सन्धि के लिए तैयार करने का भरसक प्रयत्न किया। इतना ही नही, उन्होंने पाण्डवों को केवल पाँच गाँव प्राप्त करके ही सन्तोष कर लेने तक के लिए तैयार कर लिया।

उधर धृतराष्ट्र भी समझौता चाहते थे, पर दुर्योधन के आगे उनकी चल न सकी। कृष्ण ने दुर्योधन से बहुत-बहुत कहा, "हे तात! शांति से ही तुम्हारा तथा जगत का कल्याण होगा", पर दुर्भाग्य से दुर्योधन को शांति या सन्धि की कोई

भी बात पसंद नहीं आयी। उसका दो टूक उत्तर था, 'केशव, मैं एक सुई की नोक जितनी भूमि भी बिना युद्ध के नहीं दूंगा।" कृष्ण के सत्परामर्श का धृतराष्ट्र के अतिरिक्त भीष्म और द्रोण ने भी समर्थन किया किन्तु दुर्योधन के हठ के आगे उनकी भी कुछ नहीं चली। दुर्योधन ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा, और अन्त में महाभारत का वह संहारकारी महायुद्ध होके रहा।

पूरे युद्ध में कृष्ण निश्शस्त्र ही रहे। हाँ, अपने बाल-सखा अर्जुन के रथ का सारथीत्व उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। यह उनकी निरहंकार वृत्ति का सुन्दर उदाहरण है। उन्होंने सम्पूर्ण निष्ठा और निश्चय के साथ पाण्डवों की सहायता की। भीष्म ने तो युधिष्ठिर को आशीर्वाद देते हुए कह ही दिया था कि—

"यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः"

अर्थात्, जिधर धर्म होगा, उधर कृष्ण होंगे और जिधर कृष्ण होंगे, उधर विजय अवश्य होगी।

युद्ध के प्रारम्भ में अपने गुरुजनों, इष्टमित्रों एवं बन्धुओं के संहार की कल्पना से खिन्न तथा अवसन्नमन अर्जुन को उत्साहित कर कर्त्तव्य-पालन में तत्पर करने की दृष्टि से योगेश्वर कृष्ण ने जो उपदेश दिया था, वह महाभारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इस अमर उपदेश को महाभारत के रचयिता व्यास मुनि ने भगवद्गीता

के रूप में ग्रथित किया है। गीता में उन सिद्धान्तों की व्याख्या है, जिनके अनुसार स्वयं कृष्ण ने अपना लोक-हितकारी जीवन व्यतीत किया। योग और कर्म की जो व्याख्या कृष्ण ने गीता में की है, वह युग-युग तक मनुष्य-जाति का पथ-प्रदर्शन करेगी। "मैं यह काम कर तो रहा हूँ, किन्तु परिणाम न जाने क्या होगा"—इस प्रकार के सकल्प-विकल्प में पड़े मानव के लिए श्रीकृष्ण के मुख से निकले अमर शब्द—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन", अन्धकार में ठोकरें खाते हुए पथिक को सहसा बिजली की कौंध से प्राप्त पथ-प्रदर्शन की भाँति प्रेरणादायी और उत्साह-वर्धक हैं।

फल की चिन्ता से मुक्त होकर कर्त्तव्य-पालन ही सुखी और सफल जीवन की कुंजी कहा जा सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने भारपूर्वक कहा है कि यदि मनुष्य अनासक्त होकर, निस्वार्थ भाव से अपना कर्त्तव्य करे तो कर्म आत्मा के लिए बन्धन का कारण नहीं होता। मनुष्य के बन्धन और दु:ख का कारण कर्म नहीं, बल्कि आसक्ति है। अत मनुष्य को सुख-दु:ख या हानि-लाभ की चिन्ता किये बिना निस्स्वार्थ भाव से अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिये। गीता का कर्मयोग श्रीकृष्ण की मानव-जाति को एक महती देन है। कई महान् सन्तों और प्रकाण्ड विद्वानों ने गीता पर भाष्य या टीकाएँ लिखी हैं और उसके श्लोकों के नये-नये अर्थ निकाले हैं। ससार के महान् दर्शन-ग्रन्थों में गीता का विशिष्ट स्थान है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने बचपन में निस्स्वार्थ स्नेह और बाल्योचित क्रीड़ा, युवावस्था में वीरता और साहस, तथा परिपक्व आयु में राजनीति और गहन दार्शनिकता का सुन्दर उदाहरण हमारे सामने रखा। भारत के नर-नारियो ने उनके जीवन को आदर्श माना और इस प्रकार उनके हृदय मे उस महामानव के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हुई, वह कभी मिट नही सकती।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

: ३ :

# तीर्थंकर महावीर

जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर तथा वर्तमान स्वरूप में जैन-र्म के प्रवर्त्तक महावीर का जन्म ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व ार्थात् आज से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व विहार के कुण्डपुर ामक स्थान पर हुआ। उनके पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर के ुखिया थे और राजा कहलाते थे। उनकी माता त्रिशला देवी ैशाली के प्रसिद्ध लिच्छवी वंश के राजा चेटक की ाहिन थी।

वर्द्धमान जब गर्भ मे आये, तभी से उनके पिता की मृद्धि हर प्रकार से बढ़ गयी। इसलिये उनका नाम वर्द्ध-ान रखा गया। महावीर तो बाद में उनका उपनाम हुआ, योकि उन्होने बड़ी उग्र तपस्या की और बहुत-सी कठिनाइयों ा सामना किया।

वर्द्धमान ने बालपन से ही अपने शील-स्वभाव से माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों को मोहित कर लिया था। बसे उनका व्यवहार विनयशील और स्नेहपूर्ण था। बचपन से ही वे शान्त और गम्भीर प्रकृति के थे।

एक क्षत्रिय राजकुमार के अनुरूप उनकी सर्वांगीण शिक्षा हुई। एक ओर तो वे अपने शौर्य और वीरता के लिए

प्रसिद्ध हो गये, दूसरी ओर उनके शिक्षक उनकी असाधारण बौद्धिक प्रतिभा से प्रभावित ही नही, वरन् आश्चर्यान्वित भी हुए। बहुत थोड़े ही समय मे उन्होंने गम्भीर दार्शनिक विषयों तक का अध्ययन समाप्त कर लिया। जब वे युवावस्था मे पहुँचे तो उनकी गम्भीरता और भी बढ गयी। वे अत्यन्त एकान्त-प्रिय हो गये। वे अक्सर अकेले मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार मे मग्न रहने लगे। माता-पिता को चिन्ता हुई। वर्द्धमान के जन्म के समय ज्योतिपियो ने कहा था कि यह बालक चक्रवर्ती होगा। इस भविष्यवाणी से उनके मन मे बड़ी आशाएं बंधी थी। परन्तु युवावस्था मे वर्द्धमान के रग-ढग देखकर वे बडे निराश हुए। उ होने विचार किया कि कुमार का विवाह कर दे तो शायद इसका मन सांसारिक जीवन में लग जाय। इसलिए जब पुष्पपुर के सामन्त समरवीर ने अपनी पुत्री यशोदा का विवाह वर्द्धमान से करने का प्रस्ताव किया तो उनके पिता सिद्धार्थ वड़े प्रसन्न हुए। अब समस्या यह थी कि विवाह के लिए वर्द्धमान की स्वीकृति कैसे प्राप्त को जाय। उनकी बिल्कुल इच्छा नही थी कि विवाह कर गृहस्थ जीवन के बंधन मे बँधें। पिता ने उनके मित्रो से कहलाया। परन्तु वर्द्धमान राजी नही हुए। अन्त मे स्वयं उनकी माता त्रिशला देवी ने अत्यन्त आग्रह से उन्हे समझाया। उनके नेत्रो में आंसू भी भर आये। वर्द्धमान माता को दुखी नही देख सके। उन्होने विवाह करना स्वीकार कर लिया।

अब माता-पिता के हर्ष का पारावार न रहा। बडी धूमधाम से वर्द्धमान का विवाह यशोदा से हो गया। कुछ दिन बाद उनके एक पुत्री हुई, जिसका नाम प्रियदर्शना या अनोजा रखा गया। आगे जाकर जब वर्द्धमान को सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया तो प्रियदर्शना भी उनके सघ में सम्मिलित हो गयी।

वर्द्धमान के मन में ससार के सुखो से विरक्ति तो बचपन से ही थी परन्तु माता-पिता की ममता को ध्यान मे रखते हुए उनके जीवन-काल मे वे घरबार छोड़कर साधु नही बने। जब वे २८ वर्ष के थे तो कुछ ही दिनों के अन्तर से उनके माता और पिता दोनो का देहान्त हो गया। अब उन्होने सन्यास लेने का निश्चय कर लिया और अपने बड़े भाई नदिवर्धन से आज्ञा माँगी। नदिवर्धन ने कहा, "भाई, अभी तो माता-पिता के वियोग से मैं बड़ा दुखी हूँ। यदि तुम भी हमे छोड़ कर चले जाओगे तो मेरे हृदय को बहुत आघात पहुँचेगा। मेरा आग्रह है कि तुम कम से कम दो वर्ष और हम लोगों के साथ रहो।" वर्द्धमान भाई का आग्रह मान कर कुछ समय के लिए और रुक गये। पर लगभग दो वर्ष के बाद अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार वे गृहस्थाश्रम छोडकर घर से निकल ही गये। इस समय उनकी आयु तीस वर्ष की थी। उन्होने साढे बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की तथा कई बार तो महीनो तक निराहार रहे।

एक बार वर्द्धमान विचरण करते-करते एक ऊजड़ मार्ग से जाने वाले थे । लोगों ने आप को समझाया कि आप इस मार्ग से न जाइये क्योंकि इस तरफ एक अत्यन्त भयंकर सर्प रहता है, जिसके कारण लोग उधर से नही निकलते । वर्द्धमान ने इस चेतावनी पर ध्यान नही दिया और सर्प के विल के पास खड़े होकर ध्यान करने लगे। वे कई घण्टे उसी स्थान पर ध्यान मे मग्न खड़े रहे। सांप वन मे धूम फिरकर अपने स्थान पर लौटा तो उसने उन्हें वहाँ खड़े देखा। उसने फुफकार भी की परन्तु वर्द्धमान अपने स्थान से नही हटे। बार-बार फुफकार का भी कोई असर न होता देख सांप ने उनके पैर के अंगूठे पर काट लिया। फिर भी वर्द्धमान अपने स्थान से नही हटे वल्कि ध्यान मे लीन ही खड़े रहे । कहते हैं कि उनकी उस गम्भीर मुद्रा का सॉप पर वड़ा प्रभाव पडा और उसके हृदय की हिसा शान्त हो गयी।

वर्द्धमान अधिकतर 'मौन' रखते थे। इन बारह वर्षो मे उन्हे बहुत से सकट सहने पड़े । वे वर्ष मे आठ मास तो भ्रमण करते थे और वर्षा ऋतु मे चार मास एक स्थान पर विताते थे। इन चार महीनो को चातुर्मास या चौमासा कहते हैं। एक चातुर्मास उन्होने एक अनार्य प्रदेश मे भी विताया, जहां लोगो ने उन्हे तरह-तरह के कष्ट दिये। वर्द्धमान हाथो मे ही आहार लेकर भोजन करते थे। उस प्रदेश के लोगों ने भोजन के स्थान पर उनके हाथों मे

पत्थर भर दिये। कुत्तों को उनके पीछे लगा दिया गया। मार-पीट भी की गयी तथा और भी भाँति-भाँति की यातनाएँ उन्हे दी गयी। परन्तु उन्होने शान्ति से सब कष्ट सहन किये। अपने आततायियों पर जरा भी क्रोध नही किया।

एक बार आप ध्यान मे मग्न थे कि एक ग्वाला उधर से आ निकला। उसके साथ कुछ बैल थे। उसने वर्द्धमान से कहा, "जरा मेरे बैलो को देखना। मैं अभी आता हूँ।" यह कहकर वह अपनी गायो को दुहने चला गया। वर्द्धमान अपने ध्यान मे मग्न थे। अतएव उनके लिए ग्वाले के बैलो की ओर ध्यान देना सम्भव नही था। बैल इधर-उधर भटक गये। जब ग्वाला लौटा और उसने अपने बैलो को नही देखा तो वह बोला, "ओ बाबाजी, मेरे बैल किधर गये?" ध्याना-वस्थित होने से वर्द्धमान ने कोई उत्तर नही दिया। ग्वाले को क्रोध आ गया। उसने फिर कहा "क्यो, सुनते नही? बहरे हो क्या?" फिर भी कोई उत्तर नही। ग्वाले ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर शर्करा वृक्ष की लकडी की कीलियाँ आपके कानो में जोर से खोंस दी। फिर दोनो कानो को कीलियो से बन्द कर उनके बाहर को निकले सिरे काट डाले ताकि एकाएक किसी को पता न लगे कि इनके कानो में कीलियाँ ठुकी हुई हैं। वर्द्धमान उस स्थान से पावापुरी गये। वहाँ आहार के लिए सिद्धार्थ नामक वणिक के यहाँ पहुँचे। उस समय सिद्धार्थ का एक वैद्य मित्र वही था। उसने देखा कि आपके कानो मे कीलियाँ

घुसी हुई है । उसने कीलियो को सण्डासी से खीचकर निकाला। कीलियो के निकलने के साथ ही रुधिर की धारा भी बह निकली । इससे आपको भयकर पीड़ा हुई। यद्यपि आपकी सहनशक्ति अनुपम थी तथापि इस पीडा से अनायास आपके मुंह से चीख निकल पडी। फिर भी आपके मन मे ग्वाले के प्रति लेशमात्र भी रोष नही उत्पन्न हुआ।

साढे बारह वर्ष तक कठोरतम तपस्या के साथ निरन्तर मौन रहकर जीवन की समस्याओं पर विचार करने पर ऋजु-बाला नदी के किनारे एक पुराने उद्यान मे आपको सर्वोच्च ज्ञान जिसे जैन "केवलज्ञान" कहते है, प्राप्त हुआ। आपने जीवन, मृत्यु, लोक, परलोक, आत्मा, परमात्मा, कर्म व मोक्ष के रहस्यो को समझ लिया। आपके हृदय को अपूर्व शाति मिली। इस समय आपकी अवस्था लगभग ४२ वर्ष की थी। इसके बाद आप ३० वर्ष तक और जीवित रहे तथा अपने उपदेशो के द्वारा ससार को कल्याण का मार्ग दिखाते रहे।

आपने पहले ११ प्रधान शिष्य बनाये, जिन्हे गणधर कहते है। इनमे प्रमुख इन्द्रभूति गौतम थे। जब वर्द्धमान 'केवल-ज्ञान' की प्राप्ति के बाद पावापुरी पहुँचे, उस समय वहाँ सोमल नामक ब्राह्मण एक यज्ञ कर रहा था, जिसमे इन्द्रभूति आदि ग्यारह पण्डितो को शिष्यो सहित आमन्त्रित किया गया था। महावीर ने पावापुरी के एक उद्यान मे व्याख्यान दिया। इस

व्याख्यान का वहाँ की जनता पर चामत्कारिक प्रभाव पडा। जब इन्द्रभूति ने महावीर के व्याख्यान की चर्चा और प्रशसा सुनी तो उन्हे बड़ी ईर्ष्या हुई। वे सोचने लगे, "यह कौन व्यक्ति है, जिसकी लोग इतनी प्रशंसा कर रहे है। मैं चलकर इससे शास्त्रार्थ करूँ और उसका अभिमान चूर्ण कर दूँ।" इन्द्रभूति अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे और उन्हे कई उपाधियाँ मिली हुई थी। वे यज्ञस्थल से रवाना होकर महावीर के पास आये। महावीर की शान्त गम्भीर मुद्रा का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। ऐसा व्यक्तित्व इन्द्रभूति ने अभी तक देखा नही था। वे असमजस मे खड़े थे कि महावीर की गम्भीर वाणी मुखरित हुई, "कहो, इन्द्रभूति, कुशल तो है? तुम्हारे मन मे यह सन्देह है न कि जीवात्मा है या नही?" इन्द्रभूति ने अपने मन का संशय स्वीकार किया। महावीर ने विभिन्न तर्कों से उनके सशय को मिटाया और उन्हे अपने सिद्धान्त समझाये। इन्द्रभूति महावीर के प्रथम शिष्य बने। वे गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है। उनके बाद यज्ञ मे आये हुए अन्य १० विद्वानो ने भी महावीर का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इन ११ विद्वानो के साथ इनके कई हजार शिष्यो ने भी महावीर के पास साधुत्व की दीक्षा ली।

महावीर ने अपने धर्म के प्रसार के लिए एक सघ की स्थापना की, जिसके चार अग थे—साधु, साध्वी, श्रावक, और श्राविका। श्रावक और श्राविका महावीर के नियमो को मानने

वाले गृहस्थ अनुयायियो को कहते हैं। महात्मा बुद्ध ने भी इस प्रकार के संघ की स्थापना की था, जिसमें भिक्षु और गृहस्थ दोनो सम्मिलित थे। कहते हैं कि महावीर के संघ में १४,००० साधु और ३६,००० साध्वियां थी और ४,७७,००० गृहस्थ उनके अनुयायी थे।

महावीर ने संसार और आत्मा दोनो को अनादि माना है। उनका मत है कि न तो संसार को किसी ने बनाया है और न ही आत्मा को। आत्मा ही ईश्वर है। जैसे दर्पण पर धूल जम जाती है, वैसे ही आत्मा पर कर्मो का आवरण अर्थात् पर्दा पड़ा हुआ है, जिसके कारण आत्मा अपना वास्तविक, शुद्ध ईश्वरीय रूप नही पहचान सकती। इन कर्मो के प्रभाव से आत्मा जन्म-जन्मान्तर में भटकती रहती है। जब कर्मो का क्षय हो जाता है तो आत्मा आवागमन अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाती है। कर्म का क्षय हो जाने पर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है। पिछले अशुभ कर्म या संस्कार आत्मा को शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने मे रोकते है। मनुष्य सांसारिक सुखो की तृष्णा या अपने प्रेमियो और सम्बन्धियों के मोहवश आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नही समझ पाता। तृष्णा और मोह मनुष्य के बड़े शत्रु हैं। मनुष्य सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र की सहायता से कर्म क्षय करने मे सफल होता है। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है 'सही ज्ञान'। आत्मा का स्वरूप क्या है? वह कर्मों

के द्वारा किस प्रकार बन्धन में है? अपने वास्तविक स्वरूप को वह क्यो नही समझ पाती, और किन साधनों से वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो सकती है? आदि विषयो के ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं।

उपरोक्त बातो को भली प्रकार हृदयगम कर लेना, उनके बारे में निश्चित दृष्टि और दृढ़ विश्वास प्राप्त करना 'सम्यक् दर्शन' कहलाता है और सम्यक् ज्ञान और दर्शन के आधार पर सही आचरण करना 'सम्यक् चरित्र' कहलाता है।

सम्यक् चरित्र के पाँच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। वे है—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य अर्थात् ईमानदारी, (४) ब्रह्मचर्य, और (५) अपरिग्रह अर्थात् किसी भी प्रकार के धन या दौलत या जायदाद आदि की इच्छा न करना। जो पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण ईमानदारी, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह व्रत स्वीकार करते हैं, वे सच्चे साधु है। वे किसी भी वस्तु को अपनी नही मानते।

महावीर के अनुसार ये पाँच सिद्धान्त सही मानव जीवन के आधार हैं।

महावीर ने क्रोध, मान अर्थात् अहंकार, माया अर्थात् कपट और लोभ को कषाय माना है, जिनके वश मे होकर मनुष्य सन्मार्ग से भटक जाता है।

महावीर ने अहिंसा और क्षमा को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया है। महावीर के जीवन की घटनाओ से हमे पता लगता है कि उन्हे कितना सताया गया। फिर भी उन्होंने अपने आततायियो पर कभी क्रोध नही किया। जैन साधु प्रति दिन प्रातःकाल और संध्या समय संसार के सब जीवो से क्षमा माँगते है और सब प्राणियो के प्रति मैत्री-भाव प्रकट करते हैं। वे कहते है :—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्व जीवेसु, वैरं मज्झं न केणई ॥

अर्थात् मैं सब जीवो से क्षमा माँगता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करे। मेरी सब जीवो से मैत्री है, वैर किसी से नही।

जैन धर्म वैराग्यप्रधान धर्म है जो ससार के सुखो को त्याज्य समझता है तथा सयम और तपस्या को आत्म-शुद्धि का महत्त्व-पूर्ण साधन मानता है। जैनो मे लम्बे समय तक उपवास करने की परम्परा है। स्वयं महावीर ने कई बार महीनो तक के उपवास किये। उपवास, अल्पाहार, एकान्तवास, शरीर को कष्ट देना आदि बाह्य तप माने जाते हैं। अपनी भूलो के लिए प्रायश्चित्त करना, विनय अर्थात् नम्रता, सेवा, त्याग, स्वाध्याय अर्थात् धर्म का अध्ययन और ध्यान ये आभ्यंतर अर्थात् आंतरिक तप कहलाते है, जो अधिक महत्त्व के हैं।

महावीर ने इस प्रकार के परम सात्त्विक धर्म का ३०

वर्ष तक निरन्तर प्रचार किया। ईसा पूर्व ५२७ मे ७२ वर्ष की आयु मे मध्यमा पावांपुरी मे उनका देहान्त हो गया। यह स्थान विहार राज्य मे पटना के पास है।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या अर्थात् दीपावली के दिन प्रातः काल से अर्धरात्रि तक भगवान उपदेश देते रहे। अर्धरात्रि के समय उन्होने शरीर त्याग कर निर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया। उस समय निविड़ अन्धकारपूर्ण रात्रि थी। वहाँ एकत्रित राजाओ तथा नागरिको ने दीपक जलाये और महावीर के वियोग से दुःखी होते हुए उनके निर्वाण का उत्सव मनाया। जैन ऐसा मानते हैं कि इसी घटना से दीपावली के दिन दिये जलाने की परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

जब महावीर का जन्म, हुआ तो भारतवर्ष मे यज्ञ-प्रथा जोरो से प्रचलित थी। यज्ञो मे हजारो पशुओ की बलि दी जाती थी। महावीर तथा बुद्ध इन दो महान् सन्तो ने मानव-हृदय मे मूक पशुओ के प्रति करुणा जाग्रत कर दी और सदा के लिए हिसापूर्ण यज्ञ वन्द हो गये।

सभवतः भारत में निरामिषाहार की परम्परा का श्रेय भी महावीर के उपदेशो को है। उनके जन्म से पहले मांसाहार का रिवाज सर्वत्र प्रचलित था।

महावीर ने आत्मा के कल्याण के लिए परम्परागत कर्म-काण्ड और यज्ञ, हवन, पूजा-पाठ आदि के स्थान पर मनुष्य

ने सद्‌विचार और सच्चरित्रता को प्रतिष्ठापित किया। उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर बल दिया कि मनुष्य अपनी उन्नति अथवा अवनति के लिए स्वयं उत्तरदायी है और वह अपने पुरुषार्थ से ही ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है।

संसार के महान् धर्म-प्रवर्तकों और सन्तों में महावीर का स्थान सदा बहुत ऊँचा रहेगा।

: ४ :

# महात्मा बुद्ध

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतमबुद्ध को कौन नही जानता ? संसार के सर्वश्रेष्ठ सतो में उनका स्थान भी बहुत ऊँचा है। इस धर्म का जन्म भारत मे ही हुआ था, और यद्यपि आज इस देश मे बौद्धो की सख्या नगण्य है, परन्तु चीन, जापान, लंका, बरमा आदि एशिया के कई देशो मे करोड़ों मनुष्य बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं।

बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व ५६३ में अर्थात् आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ था। उनके पिता शुद्धोदन शाक्यवंशो क्षत्रिय थे। उस समय मगध मे कई गणराज्य थे जिनमे प्रजातान्त्रिक राज्यप्रणाली प्रचलित थी, यद्यपि उनके मुखिया राजा कहलाते थे। शुद्धोदन शाक्य गणराज्य के मुखिया थे और उनकी राजधानी हिमालय की तराई में स्थित कपिलवस्तु थी। यह स्थान आजकल नैपाल राज्य मे है। बुद्ध के जन्म से कुछ पहले उनकी माता महामाया अपने मायके जाने के लिए कपिलवस्तु से रवाना हुईं। मार्ग मे वह लुम्बिनी नामक शालवन मे ठहरी। वही अचानक बुद्ध का जन्म हो गया। राजा के हर्ष का पारावार न रहा। वे बूढ़े हो चले थे और उनके अभी तक कोई सन्तान नही थी। बालक का नाम

सिद्धार्थ रखा गया क्योंकि उनके जन्म से उनके माता-पिता के मनोरथ सिद्ध हो गये। सारे गणराज्य मे मंगलाचार होने लगे। परन्तु दुर्भाग्यवश पुत्र-जन्म के सातवे दिन ही महारानी महामाया का देहान्त हो गया। शोक-सतप्त राजा ने वच्चे को सँभालने का भार अपनी दूसरी रानी व महामाया की छोटी बहिन महाप्रजापति को दिया। मौसी ने बड़े स्नेह से वच्चे का लालन-पालन किया।

सिद्धार्थ का जन्म शाक्यवश के गौतम गोत्र मे हुआ था, अत: वे सिद्धार्थ गौतम कहलाते थे। बुद्ध तो वे बाद मे कहलाये, जव कि उन्हे सर्वोच्च ज्ञान अर्थात् बोध प्राप्त हो गया।

सिद्धार्थ बड़े प्रखरबुद्धि बालक थे। जब विश्वामित्र नामक विद्वान् आचार्य उन्हे पढाने लगे तो वे उनकी अनुपम बुद्धि देखकर चकित हो गये। थोड़े ही समय मे वेद-वेदाग के अध्ययन के अलावा सिद्धार्थ धनुर्विद्या, घुड़सवारी, असिसचालन आदि क्षत्रियोचित कार्यो मे भी अत्यन्त कुशल हो गये। यद्यपि वे असामान्य रूप से प्रतिभाशाली थे तथापि अपने शिक्षको के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त नम्र था। सहानुभूति और करुणा के तो वे मानों सजीव रूप थे। एक बार जव सिद्धार्थ अपने उद्यान मे थे तो हसो का एक झुण्ड किलकारियाँ करता हुआ हिमालय मे अपने नीड की ओर उड़ता हुआ आया। हसो को उड़ते देख सिद्धार्थ के एक सम्बन्धी देवदत्त ने अपने धनुप से एक तीक्ष्ण वाण छोड़ा जो झुण्ड के अग्रगामी हंस के जा

लगा और वह तड़पता हुआ भूमि पर आ गिरा। सिद्धार्थ ने तुरन्त ही उसे उठाया, स्नेहपूर्ण हाथो से उसके तीर को निकाला और उसके घाव मे मधु लगाया। इतने मे देवदत्त के दल के एक व्यक्ति ने आकर हंस की मॉग की। उसने कहा कि यह हस देवदत्त के बाण से गिरा है। अतएव इस पर देवदत्त का अधिकार है। सिद्धार्थ ने उत्तर दिया कि यह हंस जीवित है। करुणा और सहानुभूति के आधार पर मेरा यह अधिकार है कि मैं उसे रखूँ। झगडा यो नही सुलझा तो समाज के बुद्धिमान् और वयोवृद्ध लोगो के सामने रखा गया। उनका निर्णय गौतम के पक्ष मे रहा। उन्होने कहा कि किसी प्राणी पर मारने वाले की अपेक्षा बचाने वाले का अधिक अधिकार है।

लोगो ने किशोर अवस्था से ही सिद्धार्थ के जीवन मे गहन चिन्तन की झलक देख ली थी। एक बार वसन्त ऋतु मे प्राकृतिक सौन्दर्य और ग्राम-जीवन के सहज, स्वाभाविक उल्लास के वातावरण मे उन्हे जीवन मे निहित दु.ख का आभास हुआ और के एकान्त में जाकर एक जम्बू वृक्ष की छाया मे ध्यानावस्थित हो गये।

सिद्धार्थ के जन्म के समय ज्योतिषियो ने कहा था कि यह बालक या तो चक्रवर्ती राजा होगा या महान् सन्त। इससे शुद्धोदन के मन मे बराबर यह आशंका बनी रहती थी

कि कहीं सिद्धार्थ घरबार छोड़ कर संन्यास न ग्रहण कर ले। ऐसी घटनाओं से राजा की चिन्ता बढ़ गयी। उन्होंने सोचा कि किसी प्रकार सिद्धार्थ का मन सांसारिक सुखों में लगा दिया जाय। उन्होंने विभिन्न ऋतुओं में कुमार के मन-बहलाव के लिए तीन शानदार भवन बनाये। जिनके नाम थे शुभ, सुरम्य और रम्य। इनके आसपास रमणीक उद्यान, मनोहर फव्वारे और कल-कल करते हुए झरने बनाये गये। राजा ने मन्त्रियों से भी राय ली। सब ने सलाह दी कि राजकुमार का किसी अनुपम सुन्दरी से विवाह हो जाना चाहिये। एक उत्सव की व्यवस्था की गयी, जिसमें गणराज्य की श्रेष्ठ सुन्दरियाँ सम्मिलित हुईं। सिद्धार्थ अपने मामा सुप्रवुद्ध की कन्या यशोधरा अथवा गोपा के सौन्दर्य और शील से अत्यन्त प्रभावित हुए। शाक्यों के नियमानुसार सुप्रवुद्ध ने घोषणा की कि मेरी कन्या सबसे शौर्यवान युवक का वरण करेगी। एक सप्ताह के बाद पुरुषार्थ के खेलों का कार्यक्रम रखा गया, जिसमे धनुर्विद्या, असिसंचालन तथा घुड़सवारी आदि सभी मे सिद्धार्थ सर्वश्रेष्ठ पाये गये और यशोधरा का विवाह उनसे हो गया। पिता का हृदय अब कुछ निश्चिन्त हुआ। उन्होंने पुत्र के लिए विश्राम-वन नामक एक नया महल बनवाया जिसमें नव-विवाहित दम्पति के लिये आनन्द के सब साधन विद्यमान थे। राजा ने अपने सब कर्मचारियों को आदेश दिया कि कुमार किसी भी प्रकार से दुःख का अनुभव न

रें। कोई दुखी मानव उनकी दृष्टि तक में न आवे। मृत्यु, ाडा, वृद्धावस्था तथा रोग का कभी जिक्र भी उनके सामने किया जाय। प्रेम और आनन्द ने सिद्धार्थ के लिए विस्मृति इन्द्रजाल का निर्माण कर दिया।

परन्तु प्रत्येक स्वप्न जागृति मे परिणत होता है। धीरे-ोरे कुमार के मन में अपने स्वप्नलोक के बाहर का जीवन खने की इच्छा प्रवल होती गयी। अन्त मे सारथी छन्दक ो आदेश मिला कि कल दोपहर को रथ तैयार कर लाओ। नता ने जयजयकार से अपने राजकुमार का अभिनन्दन केया। इतने में सडक के बीच एक बूढा आ निकला। उसकी कमर झुकी हुई थी। उसकी झुर्रियाँ पड़ी हुई चमड़ी निर्मास हड्डियो से चिपकी हुई थी। उसके दन्तहीन मुँह से लार टपक रही थी। उसकी कान्तिहीन आँखे भिक्षा की याचना कर रही थी। सिद्धार्थ एकदम चिल्ला उठे, "छन्न, यह कौन है, जो मनुष्य के समान तो लगता है, परन्तु इतना झुका हुआ, इतना दुखी, इतना दयनीय और इतना वीभत्स है?"

छन्न ने नम्रता से उत्तर दिया, "कुमार, यह एक बूढा आदमी है। ५० वर्ष पहले इसका शरीर भी ऐसा ही स्वस्थ और सुगठित था, जैसा कि मेरा या आपका है। बुढापा मनुष्य को निर्बल और असहाय बना देता है।" गौतम ने पूछा, "तो क्या सभी मनुष्य बूढ़े होते हैं? क्या मै भी ऐसा हो जाऊँगा?" छन्न ने उदास होकर उत्तर दिया, "श्रीमन्, निस्सन्देह! जो मनुष्य ८० या ९० या १०० वर्ष तक तेजी

है, उनकी यही स्थिति हो जाती है। किसी की कुछ वर्ष पहले, किसी की कुछ बाद मे।" सिद्धार्थ यह सुनकर बड़े खिन्न होकर बोले, "सारथी, लौट चलो। ऐसा नही सोचा था कि आज यह देखने को मिलेगा।"

इसके बाद कई दिन तक राजकुमार सिद्धार्थ अपने भवन तथा उद्यान से बाहर नही निकले। परन्तु अन्त मे फिर उनकी जिज्ञासा इतनी बढ गयी कि वे पैदल ही नगर में घूमने चल पडे। दोपहर का समय था, बाजार मे चहल-पहल मची हुई थी। व्यापारी और ग्राहको मे मसाले, अनाज आदि के सौदे के लिए भाव-ताव चल रहा था। गाड़ियाँ, रथ, पालकियाँ भीड़ को हटाती हुई बढ रही थी। पनिहारिने मटकी सँभाले चली जा रही थी। हलवाई की दुकान पर बच्चो की भीड़ लग रही थी। कही सँपेरा नाग को नचा रहा था, कही बरात निकल रही थी। कुमार यह रौनक देखते हुए नगर-द्वार पार कर नदी के किनारे जा पहुँचे। इतने में सड़क के किनारे से एक कराह सुनाई पडी, "अरे मुझे उठाओ, नही तो मैं मर जाऊंगा।" देखा तो एक मनुष्य पड़ा-पड़ा तडप रहा था। उसका मुख वेदना से विकृत हो रहा था। वह उठने का प्रयत्न कर रहा था, परन्तु थोडा-सा उठते ही फिर गिर पड़ता था। सिद्धार्थ ने उसे उठाकर अपनी गोद मे सुलाया और पूछा, "भाई क्या बात है? तुम्हे क्या तकलीफ है?" वेदना के मारे वह कुछ न बोल सका तो उन्होने छन्न से पूछा, "छन्न, यह इतना हांफता कराहता क्यो तड़प रहा

है ?" छन्न ने कहा, "महाराज, इसे महामारी ने आ दबोचा है। देखिये, यह किस तरह दांत किटकिटा रहा है, और हाथ पटक रहा है, मानो दर्द को पकड़ने के लिए झपटता हो। यह तड़प-तड़प कर दम तोड़ देगा।" कुमार ने आतुर को सांत्वना देते देते कहा, "क्या कई लोगो को इसी प्रकार रोगो का सामना करना पड़ता है।" छन्न ने उत्तर दिया, "ज्वर, पक्षाघात, कुष्ठ, यक्ष्मा किसी न किसी रूप में रोग सब को सताते हैं।" कुमार ने शंकित हो फिर पूछा, तो क्या मनुष्य बीमारी की आशंका से भयातुर रहता है ?" सारथी ने गम्भीरता से उत्तर दिया, 'सभी मनुष्य रोग ग्रस्त होकर अन्त मे मृत्यु को प्राप्त होते है। देखिये, सामने मृत्यु का दृश्य !"

सिद्धार्थ ने सिर उठाया तो देखा कि कई लोग अपने एक मृत सम्बन्धी के शव को लेकर राम-नाम का उच्चारण करते हुए श्मशान की ओर बढ़ रहे हैं। श्मशान-यात्रा समाप्त होने पर उन्होने शव को चिता पर लिटाया और आग लगा दी। थोड़े ही समय में ज्वालाये धायें-धायें कर उठने लगी। यह देखकर सिद्धार्थ और भी उदास होकर बोले, "क्या सभी प्राणियों का यही अंत होता है ?" सारथी ने उत्तर दिया, "महाराज, कोई भी मनुष्य मृत्यु से नहीं बच सका। राव, रंक सब मृत्यु के शिकार होते हैं।" गौतम को मनुष्य-जीवन मे दुःख के बाहुल्य और सुख की निस्सारता का पूर्ण रूप से

निश्चय हो गया। उनकी दृष्टि के सामने से सुख की प्रवंचना का पर्दा हट गया। वे अपने भवन में लौट आये। उन्होंने जीवन की वास्तविकता समझ ली थी।

अब सिद्धार्थ के मन को चैन नही था। वे निरन्तर मानव-जीवन में व्याप्त दु ख और निस्सारता पर विचार करते रहते थे। अंत मे उन्होंने मनुष्य-मात्र के दुःख और सन्ताप का इलाज ढूढ निकालने का निश्चय कर लिया।

इन्ही दिनों जब उनका उद्विग्न मन मानव-जीवन की समस्या पर चितनशील था, उन्होने एक साधु को देखा, और सारथी से पूछा, "छन्न, यह कौन है ?" उत्तर मिला "कुमार, यह एक संन्यासी है।" कुमार ने कहा, "यह व्यक्ति बड़ा शान्त और गम्भीर मालूम होता है। इसके हाथ में एक भिक्षापात्र है और यह गेरुआ वस्त्र पहने है। यह क्या करता है ?" सारथी बोला, "स्वामी, ये साधु है। इन्होने सांसारिक जीवन से वैराग्य ले लिया है। ये भिक्षा मांग कर पेट भरते है और चिन्तन, भजन व तपस्या द्वारा अपनी आत्मा के कल्याण में लगे हुए है।" गौतम ने गम्भीर वाणी से कहा, "मैं भी इनकी तरह संसार के बन्धनों को तोड़ कर संन्यासी वन सकूं तो अच्छा रहे। संसार मे कितना दुःख है! मैं खोजना चाहता हूं कि इस दु.ख से छुटकारा कैसे मिल सकता है। चलो घर लौट चले।" सारथी उन्हें रथ पर बैठा कर विश्रामवन की ओर मुड़ा।

इन्हीं दिनों सिद्धार्थ के एकमात्र पुत्र का जन्म हुआ। जब

सिद्धार्थ को यह समाचार मिला तो उनके मुंह से निकल गया, "लो, यह राहु उत्पन्न हुआ।" उनका आशय यह था कि उन्हें संसार से बांधने वाला यह एक नया बन्धन तैयार हो गया। बालक का नाम राहुल रखा गया। सिद्धार्थ की चिन्ता घटने के बजाय और भी बढ़ गयी।

राजा शुद्धोदन ने पुत्र का ध्यान वैराग्य से हटाने के लिए अधिकाधिक प्रलोभन जुटाना शुरू किया। लेकिन उन सब का सिद्धार्थ पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उनका संकल्प दिनों-दिन दृढ़ होता गया।

वैशाख की पूर्णिमा थी। चन्द्रमा की स्निग्ध धवल किरणो ने विश्रामभवन को स्वर्गतुल्य बना दिया था। भवन के बाहर मालती, चम्पा, नलिनी, मोगरा आदि विविध पुष्पों से सुरभित अलौकिक उद्यान था। अन्दर शाक्य गणतन्त्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियां अपने गीत, नृत्य और हाव-भाव से सिद्धार्थ को मोहित करने का प्रयत्न कर रही थी। अर्ध-रात्रि तक राग-रंग चलते रहे। धीरे-धीरे कुमार ने सबको विश्राम करने की आज्ञा दी। यशोधरा भी सो गयी और सिद्धार्थ भी लेट गये।

किन्तु उनकी आंखो मे नीद कहां! उनके सामने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय था। उनके पास यशोधरा सो रही थी—सहज, निश्छल, निस्स्वार्थ प्रेम की प्रतिमा! उसका एक

हाथ शिशु राहुल के सिर पर था। सिद्धार्थ के मन मे भयंकर द्वन्द्व चल रहा था। एक ओर प्रेम और वात्सल्य, दूसरी ओर जीवन का रहस्य खोज निकालने की उत्कट जिज्ञासा! ससार को दु.ख से मुक्ति दिलाने की सर्वश्रेष्ठ महत्त्वाकांक्षा! तीन बार सिद्धार्थ उठ कर शयन-कक्ष से बाहर गये। तीन बार फिर-फिरकर यशोधरा को स्नेहपूर्ण नयनों से विदा देने लौटे। उन्हे सौन्दर्य, प्रेम और वात्सल्य से नाता तोड़ना वहुत कठिन लगा। किन्तु अत मे प्रेम और वात्सल्य हार गये। सिद्धार्थ ने महाभिनिष्क्रमण का निश्चय कर लिया। उन्होंने प्रलोभन का सामना करने के लिए अपने सिर पर चादर डाल ली, और शयन-कक्ष का पर्दा डाल कर बाहर निकल आये।

छन्दक को बुलाकर उन्होने अपना घोड़ा कंथक मँगवाया, और उस पर सवार होकर जंगल की ओर निकल गये। भोर होते-होते वे अनोमा नदी के तट पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होने घोड़े को रोका और उतर पड़े। स्नेहसहित अपने प्यारे कंथक से विदा ली और छन्दक से ये मधुर शब्द कहे, "तुमने मेरी बड़ी सेवा की है। तुम्हारा कल्याण हो। घोड़ा तथा मेरे राजसी वस्त्राभूषण ले जाकर महाराज की सेवा में भेट कर देना। उनसे निवेदन करना कि सिद्धार्थ की प्रार्थना है कि आप उसे भूल जायँ। वह किसी दिन दस गुने ऐश्वर्य सहित आपके दर्शन करेगा।"

उस समय सिद्धार्थ की आयु २६ वर्ष की थी। एक सप्ताह

तक उसी प्रदेश में अनूपिया नामक आम्रवन में ठहर कर वे राजगृह की ओर चल पडे। इस अवधि में उन्हें विविध प्रकार के तपस्वी मिले, जो अपने शरीर को नाना प्रकार से कष्ट देते थे। पर सिद्धार्थ उनकी तपस्या से प्रभावित नही हुए। वे अलार कलाम नामक सांख्य दर्शन के एक विद्वान् ऋषि के आश्रम मे भी पहुँचे। गोतम ने उनसे सांख्य सिद्धांतों को समझा, परन्तु उन्हे सन्तोष नही हुआ। इसके बाद वे वैशेषिक दर्शन के विद्वान उद्दकराम—पुत्र के आश्रम में गये और वैशेषिक दर्शन का अध्ययन किया। इससे भी उन्हे जीवन की समस्याओं का उत्तर न मिला। तब वे उरुवेला नामक स्थान पर जाकर तपस्या करने लगे। वहाँ पाँच अन्य भिक्षु भी उनसे आ मिले और उनके साथ तपस्या में जुट गये।

इन वर्षों में जब कि सिद्धार्थ राजगृह के समीप ज्ञान-प्राप्ति के लिए स्थान-स्थान पर भ्रमण कर रहे थे, कई ऐसी घटनाएँ घटी जो उनके महान् व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है। एक बार वे एक तपस्वो से चर्चा कर रहे थे कि बहुत-सी भेडे और बकरे-बकरियां धूल उडाती हुई उधर से निकलीं। कुछ चरवाहे उन्हें हाँक रहे थे। एक बकरी का बच्चा लँगड़ा था और लोहूलुहान होकर पीछे-पीछे घिसटता हुआ चल रहा था। सिद्धार्थ ने बच्चे को उठा कर अपने कन्धे पर ले लिया और चरवाहो से बोले, 'इन्हें इस दोपहर के समय कहाँ ले जा रहे हो?' उन्होने उत्तर दिया, "हमे १०० भेड़े और १०० बकरियाँ लाने

के लिए भेजा गया है। महाराज इनका शाम को बलिदान करेंगे।" सिद्धार्थ ने कहा, "मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ", और वे बच्चे को उठाये हुए चरवाहों के साथ हो लिये। संध्या-समय वे नगर में होते हुए बलिदान के स्थान पर पहुँचे। मार्ग में इन्हें देख कर नगरवासियो को अचम्भा हुआ कि यह महात्मा कौन है, जो अजा-शावक को कन्धे पर उठाये हुए चला जा रहा है। किसी ने राजा को भी सूचना दी कि एक साधु भेड़ों के साथ चला आ रहा है। राजा बलिदान के लिए तैयार था। हवन हो रहा था। पुरोहित मन्त्र पढ रहे थे। ज्योही एक व्यक्ति ने बलिदान के लिए तलवार उठायी, सिद्धार्थ ने शान्त स्वर मे कहा, "महाराज, इसे मारने मत दीजिये"। यह कहकर उन्होने वकरे के बन्धन खोल दिये। सब लोग आश्चर्य चकित रह गये। कोई उन्हे रोक नही सका। सिद्धार्थ ने उन्हे समझाया कि "जीवन लेना सरल है, पर जीवन दे कोई नही सकता। प्रत्येक प्राणी को अपनी जान प्यारी है। यज्ञ, हवन, व बलिदान करके मनुष्य अपने किये हुए कर्म के उत्तरदायित्व से नहीं छूट सकता। यदि सब प्राणी परस्पर मैत्रीभाव के स्नेह-बन्धन में बँध जायें तो यह पृथ्वी ही स्वर्ग तुल्य हो जाय।" उनके इस उपदेश का राजा, मन्त्रियों, पुरोहितों और नागरिकों पर ऐसा प्रभाव पडा कि दूसरे ही दिन राज्य मे यह घोषणा कर दी गयी कि यज्ञों में पशुवलि बन्द कर दी जाय। राजा ने जिनका कि नाम बिम्बिसार था उनसे वही

रहने के लिए बहुत आग्रह किया। लेकिन सिद्धार्थ ने कहा कि "मुझे जीवन में प्रकाश प्राप्त करना है। वह मिल सका तो मैं फिर आऊँगा।"

एक दूसरी घटना है। एक युवती जिसकी सुन्दर कजरारी आँखों में आँसू भरे थे, उनके पास आयी। उसने हाथ जोड़ कर सिद्धार्थ को प्रणाम किया और बोली, "महाराज, मैं यहीं रहती हूँ। आज मेरा बच्चा फूलो में खेल रहा था कि एक साँप उसके हाथ पर लिपट गया। बच्चा हँस-हँस कर उसके साथ खेलता रहा। परन्तु कुछ ही समय मे वह ठण्डा पड गया। मैंने लोगो से पूछा कि इसे क्या हो गया? कुछ दवा दीजिये। एक ने कहा, 'इसे जहर चढ़ गया है'। दूसरे ने कहा, 'यह तो मर जायगा'। किसी ने यह सलाह दी कि 'पहाड़ी पर एक पीताम्बरधारी साधु महात्मा रहते है, शायद वे तुम्हारे बच्चे का इलाज कर सके। यह सुनकर मैं आपके पास आयी हूँ।" सिद्धार्थ ने कहा, "बहिन, किसी के यहाँ से एक तोला काली सरसो ले आ, परन्तु जहाँ कभी कोई मरा हो, वहाँ से मत लाना; जहाँ कोई नही मरा हो, वहाँ से लाना।"

अगले दिन वह युवती फिर गौतम के पास आयी। उन्होने पूछा, "किशा गौतमी, क्या तुम्हे एक तोला सरसों मिल गयी?" उसने उत्तर दिया, "महाराज, मैं बच्चे को छाती से लगाये घर-घर भटकी तथा लोगों से कहा, 'दया कर मुझे एक तोला काली सरसो दे दो। हर एक ने उसी समय सरसों

दे दी क्योकि गरीब लोग गरीबों के प्रति दयाभाव रखते हैं। परन्तु जब मैंने पूछा, "आपके कुटुम्ब में कोई मरा तो नही है?" तो उन्होंने कहा, "बहिन, तुम क्या कहती हो? मरने वाले बहुत हैं, जीने वाले थोड़े है।" मैंने उदास होकर उन्हे धन्यवाद दिया और आगे बढ़ी। परन्तु कही से उत्तर मिला, 'सरसों तो यह लो, परन्तु हमारा भाई चल बसा है', कही से यह कि 'हमारे पिता का देहान्त हो गया है।' कही संतप्त हृदय से एक बहिन ने कहा, 'बहिन, मैं पति के शोक मे वैवव्य भुगत रही हूँ।' मुझे कोई ऐसा घर नही मिला जहाँ कोई न मरा हो। इसलिए मैं बच्चे को नदी किनारे जगली बेलो की छाया मे रख आयी हूँ और आपके चरणो मे सिर नवाकर पूछती हूँ कि "कृपा कर बतलाइये कि कहाँ वह घर है, जहाँ से मैं सरसो लाऊँ।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया "मेरी बहिन, जो कड़वी घूट मै तुझे पिलाना चाहता था, वह तुझे मिल गयी है। तेरा बच्चा कल ही मर गया था। आज तुझे पता लग गया है कि सारा संसार उसी प्रकार शोक-सतप्त है, जैसे कि तू है। संसार को अपने ही समान दु:खी देखकर तुझे सांत्वना मिलनी चाहिये। जा, अपने बच्चे की अन्त्येष्टि-क्रिया कर।"

राजा बिम्बसार से विदा होकर सिद्धार्थ उरवेला गये। यह स्थान फल्गु नदी की घाटी मे गया के समीप है। यहाँ गौतम एकाग्र-चित्त होकर जीवन की समस्याओं पर विचार करने लगे। वे विभिन्न दृष्टिकोण वाले दार्शनिकों से चर्चा

-कर चुके थे। उन्होंने वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक आदि दर्शनों का अध्ययन भी बड़ी गभीरता से किया था। अब वे दृढ-प्रतिज्ञ होकर अपने वर्षों के मनन-चिन्तन के निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते थे। कई वार वे इतने विचार-मग्न रहते कि उन्हे पहरो तक खाने का ध्यान ही नही रहता। कई वार जंगल के कन्दमूल खाकर रह जाते। उनका शरीर कृश और कांतिहीन हो गया।

एक वार धूप मे ध्यान-मग्न बैठे-बैठे वे धूप और दुर्बलता के कारण मूर्च्छित हो गये। इतने मे उधर से एक गड़रिया आ निकला। सिद्धार्थ की निमीलित आँखे और कुम्हलाया हुआ चेहरा देखकर उसे दया आ गयी। वह कुछ सीताफल की टहनियाँ लाया और उन्हे बाँध कर उसने सिद्धार्थ पर छाया कर दी। उसने एक बकरी के स्तन से उनके होठो पर थोड़ा दूध भी निचोड़ा। ठण्डक और दूध मिल जाने से गौतम होश मे आये और उन्होने गड़रिये को अपने सामने खड़ा देखा। उसके पास लोटे मे दूध था। सिद्धार्थ भूखे-प्यासे थे। उन्होने गड़रिये से दूध मांगा। वह बोला, "महाराज, मैं शूद्र हूँ। अपने स्पर्श से अपवित्र लोटे का दूध आपको कैसे पिला सकता हूँ?" सिद्धार्थ बोले, "दया और जीवन की आवश्यकता से मानव-मात्र भ्रातृत्व के बन्धन में बँधा हुआ है। रक्त की कोई जाति नही होती। सबका रक्त एक ही रग का है। न आँसुओ की कोई जाति होती है। सब की आँखो से खारे आँसुओ को

बूंदे टपकती हैं। जन्म के समय मनुष्य के ललाट पर तिलक नही लगा रहता, न उसके गले में यज्ञोपवीत रहता है। जो शुभ कार्य करता है, वह द्विज है और जो नीच कर्म करता है, वह शूद्र है। मेरे भाई, मुझे अपने लोटे से दूध पिलाओ। तुम्हारा भला होगा।" यह सुनकर गड़रिये का हृदय गद्गद हो गया और उसने सिद्धार्थ को दूध पिलाया।

इन्ही दिनों एक बार जब गौतम अपने चिन्तन में मग्न थे, उधर से कुछ स्त्रियां गाती हुई निकली। उनके गीत का सार यह था—"वीणा के तार ठीक तरह से कसे हुए रहने चाहिये, न अधिक ढीले, न अधिक तने हुए। यदि तार ढीले रह गये तो वीणा बजेगी ही नही, और यदि अधिक खिच गये तो टूट जायेंगे।" नर्तकियो का यह दल गाते नाचते निकल गया। गौतम विचार करने लगे, "कभी-कभी बुद्धिमानों को मूर्खों से भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। ये स्त्रियाँ कहती तो ठीक हैं। मै जीवन के तार को बहुत तान कर कस रहा हूं। मेरी आँखों की ज्योति मंद पड़ रही है। मेरी शक्ति क्षीण हो रही है। यदि मैं अपने शरीर को नहीं संभालूंगा तो मर जाऊंगा।" अस्तु, उन्होंने भूखों मरना व अन्य प्रकार से शरीर को कष्ट देना छोड दिया। उनके तपस्वी साथियो ने यह देखा तो सोचा कि गौतम तप-भ्रष्ट हो गये हैं, और यह सोचकर वे उनका साथ छोडकर चल दिये।

उन्ही दिनो की बात है। नदी के किनारे एक धनी सद्-

गृहस्थ रहता था, जिसका नाम सेनानी था। उसकी स्त्री सुजाता बड़ी सुन्दरी और शीलवती थी। ध्यानमग्न गौतम के पास आकर एक दिन उसने साष्टाग प्रणाम किया और नम्रता से बोली—"भगवन्, आपने मुझ पर बड़ी दया की है। कृपया मेरे हाथो से यह खीर स्वीकार कीजिये।" यह कहकर उसने खीर से भरा कटोरा गौतम के सामने रख दिया। गौतम ने सुजाता का आग्रह स्वीकार कर खीर खा ली। इससे उन्हे स्फूर्ति और शक्ति फिर से प्राप्त होने लगी और उनके निस्तेज चेहरे पर कान्ति दिखायी देने लगी। सुजाता को यह देखकर बडी प्रसन्नता हुई और उसने कहा, "आपने मेरी भेंट स्वीकार कर मुझ पर बड़ी कृपा की। क्या वास्तव में आप कोई वन-देवता है? मैने इसी पेड़ के नीचे मिन्नत की थी कि यदि मेरे पुत्र होगा तो मैं वन-देवता को खीर अर्पित करूंगी। मेरे पुत्र हो गया और मेरा जीवन अब सुखी है।"

गौतम उसकी हार्दिक श्रद्धा से बहुत प्रभावित हुए और बोले, "तू बहुत दिन तक सुखी रहे। तेरे बालक मे जीवन का भार सहने की सामर्थ्य हो। तूने मेरी बड़ी सहायता की है। मैं देवता नही, वरन् तेरा (मानव) भाई हूँ। पहले राज कुमार था, अब सत्य की खोज करने वाला परिव्राजक हूं। पर बहिन, क्या तुझे प्रेम और जीवन से सन्तोष है?"

सुजाता ने उत्तर दिया, "पूज्य, मेरा हृदय छोटा-सा है, और कुछ ही बूँदों से नलिनी (पुष्प) का प्याला भर जाता

है। मेरे लिए यही काफ़ी है कि जीवन के सूर्य की किरणें मेरे पति के सौहार्द और शिशु की मुस्कान के रूप मे चमके। घर के काम-काज मे मेरे दिन सुख से बीत रहे हैं। सुबह उठते ही मैं देवताओ की स्तुति करती हूँ, तुलसी को पानी पिलाती हूँ तथा अपनी सेविकाओं को काम बतला देती हूँ। दोपहर को मेरे स्वामी घर आते हैं और मैं उन्हें गीत गाकर और पखा झलकर सुला देती हूँ। संध्या-समय मैं अपने पति के साथ अभ्यागतों को भोजन बाँटती हूँ। जब आकाश में तारे छिटक आते हैं तो सहेलियो से बातचीत कर सोने का समय हो जाता है। मैं सुखी क्यों न होऊँ जब मुझे पति का प्रेम और बच्चे को गोद में खिलाने का आनन्द प्राप्त हुआ है। शास्त्रों मे लिखा है कि जो मनुष्य यात्रियो के लिए सड़को पर छायादार पेड़ लगवाता है, कुए खुदवाता है, और पुत्रवान है, वह स्वर्ग का अधिकारी है। जो कुछ शास्त्रो में लिखा है, उसे मैं नम्रतापूर्वक स्वीकार करती हूँ। यह मैं जानती हूँ कि भलाई का फल अच्छा मिलता है और बुराई का बुरा। ईश्वर मेरे पति और पुत्र को दीर्घायु करे। परन्तु मैं यह भी जानती हूँ कि जीवन में मुसीबतें भी आती हैं। यदि दुर्भाग्य से मेरा बच्चा चल बसे तो मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा। यदि मेरे पति का स्वर्गवास हो जाय तो मैं भी उनके सिर को गोद में लेकर चिता पर चढ जाऊँगी। महाराज, अपनी तुच्छ बुद्धि से जो कुछ मैं धर्म समझती हूँ, वह करने का प्रयत्न करती हूँ।"

यह सुन कर सिद्धार्थ बोले, "जो संसार के मार्गदर्शक हैं, उनकी मार्गदर्शिका तुम हो। इस प्रकार कर्म और कर्त्तव्य को जानने वाली तुम्हें ज्ञान की आवश्यकता नही है। हे पुष्प, तुम छाया में विकसित होओ, सत्य की प्रखर किरणे कोमल पत्तों के लिए नही है। तुम्हारा जीवन शान्तिपूर्ण और सुखी हो। तुम मेरे लिए शुभकामना करो कि जो तुम्हें मिल गया है, वह मैं भी प्राप्त करूँ।"

सुजाता ने शुभ कामना के स्वर में कहा, "आप अवश्य उसे प्राप्त करे।"

वहाँ से चलकर गौतम उस पीपल के वृक्ष के नीचे आये जो बोधिवृक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। यही उन्हें वह सर्वोच्च ज्ञान हुआ, जिसे प्राप्त कर वे बुद्ध कहलाये। बोधिवृक्ष की छाया मे वे जीवन की गहनतम् समस्याओं पर विचार करने लगे। विविध प्रकार के प्रलोभन, आशंकाएँ और भय उनके सामने आये। राग, तृष्णा, अभिमान आदि ने उन्हें प्रभावित करना चाहा। कामदेव ने अपना जाल फैलाया, वसन्त ऋतु के कमनीय दृश्य उनके मन के सामने आ खड़े हुए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों कई अप्सराएँ अपने मोहक नृत्य तथा हावभाव द्वारा उन्हे वश में करना चाहती हैं। इसके बाद उनके सामने यशोधरा के रूप में एक स्त्री आयी और कहने लगी, "परम प्रिय सिद्धार्थ, क्या तुम मेरे प्रेम को भुला दोगे? जब से तुम गये, तुमने मेरी सुधि-नही ली। मैं तुम्हारे

विरह मे दुखी हूँ।" गौतम जान गये कि यह इन्द्रजाल यशोवरा के लिए उनके हृदय में जो स्नेह है, उसके नाम पर उन्हे पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न भर है। वे विचलित नही हुए। धीरे-धीरे उनके सामने जीवन के गहनतम् रहस्य खुलते गये। अन्त में उन्हे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। इस सर्वोत्तम ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से ही वे वुद्ध कहलाये। उनके हृदय मे अब अपूर्व शान्ति थी।

वोध प्राप्त कर लेने के वाद वे चार सप्ताह एकान्त में ज्ञान का आनन्द लेते रहे। फिर उन्होने निश्चय किया कि जिस सत्य की प्राप्ति मुझे हुई है, उसका प्रचार करना चाहिये। उनका यह भी इरादा हुआ कि कौण्डिन्य आदि पाँच साधु जो पहले उनके शिष्य थे उन्हे सव से पहले उपदेश दिया जाय। वे वुद्धगया से काशी के समीप ऋषिपत्तन पहुँचे, जहाँ कि आजकल सारनाथ है। उपरोक्त पांचों साधुओं ने वुद्ध का साथ उस समय छोड़ दिया था जव कि गोतम ने उपवास तथा शरीर को कष्ट देने वाली अन्य तपस्या अनुपयोगी समझ कर वन्द कर दी थी। अव वुद्ध को आते देख उन्होंने सोचा कि गौतम पथभ्रष्ट हो चुके हैं, अतः उन्हे सम्मान नही देना चाहिये। परन्तु जव भगवान् वुद्ध उनके पास पहुँचे तो उनके व्यक्तित्व को देखकर वे उनकी अवज्ञा न कर सके। भगवान की वाणी मुखरित हुई:—

"भिक्षुओ, साधुओं को दो अतियों का त्याग करना चाहिये। ये अतियाँ क्या हैं? शारीरिक सुख, कामवासना तथा

विलास में अपने आपको भूल जाना अनिष्टकारी, अनुचित और पतन की ओर ले जाने वाला मार्ग है। साथ ही साथ शरीर को अनावश्यक कष्ट देना भी निरर्थक है। इन दोनों अतियो को छोडकर तथागत (बुद्ध) ने मध्यम मार्ग ढूंढ निकाला है। भिक्षुओ, मैंने सत्य को प्राप्त कर लिया है। प्रथम सत्य यह है कि जीवन में दु:ख है, द्वितीय सत्य यह है कि दु:ख का कारण तृष्णा है। तृतीय सत्य यह है कि तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। चौथा सत्य यह है कि आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलने से तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है। आर्य अष्टांगिक मार्ग यह है—

(१) सम्यक् दृष्टि—इसका अर्थ है सत्य और असत्य, सन्मार्ग और कुमार्ग, उचित और अनुचित मे विवेक।

(२) सम्यक् संकल्प—इसका अर्थ है कि तृष्णा को जीतने के लिए बतलाये हुए सन्मार्ग पर चलने का सकल्प अर्थात् निश्चय।

(३) सम्यक् वचन—अर्थात् झूठ नही वोलना, चुगली नही खाना, कठोर शब्द नही वोलना और बेकार गपशप मे समय नष्ट नही करना।

(४) सम्यक् कर्म—प्राणातिपात अर्थात् जीव-हिंसा, अदत्तादान अर्थात् चोरी और व्यभिचार से बचना।

(५) सम्यक् आजीविका—अर्थात् अपने निर्वाह के लिए अनैतिक कार्य नही करना और ऐसे धन्धे नही चुनना जो

...क दृष्टि से उचित नहीं हैं जैसे वेश्या-वृत्ति, नशीली वस्तुएं अथवा विष बेचना, दास-दासियों को खरीदना व बेचना।

(६) सम्यक् व्यायाम—अर्थात् उचित प्रयत्न। कुविचारों को मन से निकालना और नये कुविचार मन में उत्पन्न नही होने देना। सुविचार का विकास करना। यह मानसिक अनुशासन का मार्ग है।

(७) सम्यक् स्मृति—आत्म-चिन्तन करना। जागरूक रहकर जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करना।

(८) सम्यक् समाधि—सम्यक् प्रयत्न और सम्यक् स्मृति के द्वारा समाधि के लिए भूमिका तैयार हो जाती है। समाधि द्वारा मन पूर्णरूप से तृष्णा पर विजय प्राप्त कर शान्ति प्राप्त करता है।"

बुद्ध का उपदेश सुनकर पाँचों साधुओं ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

इसके बाद वाराणसी के एक सेठ के पुत्र देश ने उनके पास साधुत्व की दीक्षा ग्रहण की। धीरे-धीरे उनके शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। इनमें सारिपुत्त एवं मोग्गलायन प्रमुख थे।

जब बुद्ध कपिलवस्तु छोड़कर साधु बने तो राजा शुद्धोदन और यशोधरा बड़े दुखी हुए। यशोधरा के मुख की कांति क्षीण हो गयी। उसकी आँखों की ज्योति मंद पड़ गयी। उसके केश सूख गये। उसने आभूषण पहनना छोड़ दिया। वह

सफेद गाढ़े कपडे के वस्त्र ही पहनती थी। समय वीतता गया, परन्तु सिद्धार्थ न लौटे। राहुल अब सात वर्ष का हो गया था। वह अपनी माँ के नयनों का तारा, उसके हृदय का लाडला था। परन्तु यशोधरा एक क्षरण के लिए भी सिद्धार्थ को नही भूल पायी। उसके हृदय मे सदा उनसे मिलने की साध वनी रही।

एक बार उसे सन्देश मिला कि हस्तिनापुर के कुछ व्यापारी नगर में आये हैं। जिन्होने सिद्धार्थ के दर्शन किये है और वे कहते है कि "सिद्धार्थ अब एक महान् सन्त हो गये है जिनका सब सम्मान करते हैं और वे अब यात्रा करते हुए इधर ही आ रहे हैं।" यशोधरा ने बडी व्यग्रता से व्यापारियो को अपने भवन में बुलाया और उनसे सिद्धार्थ के समाचार पूछे। उन्होंने वर्णन किया कि किस प्रकार सिद्धार्थ ने सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया, किस प्रकार उन्होने सारनाथ जाकर उपदेश देना प्रारम्भ किया और किस प्रकार उन्होने अपने ६० शिष्यो को चारों दिशाओ में अपने धर्म का प्रचार करने भेजा। व्यापारियो ने यह भी सूचना दी कि सिद्धार्थ राजगृह मे वेणुवन मे ठहरे हुए हैं और वही हजारों व्यक्ति आकर उनका उपदेश सुनते हैं। यशोधरा ने राजा शुद्धोदन के पास सब समाचार पहुँचाये। राजा ने सिद्धार्थ को लिवा लाने के लिए अपने अमात्य को भेजा। वह बुद्ध का उपदेश सुनकर वही रह गया। दूसरा अमात्य भेजा गया, उसका भी यही हाल हुआ। तब राजा ने

अपने अत्यन्त विश्वासपात्र व्यक्ति उदायी से कहा—'तात, इस जीवन का कोई भरोसा नहीं । मृत्यु के पूर्व केवल एक बार पुत्र को देखने की कामना है ।" उदायी ने बुद्ध का उपदेश सुन-कर प्रव्रज्या अथवा साधुत्व की दीक्षा ली । उसके बाद बुद्ध को पिता का सन्देश सुनाया । बुद्ध कपिलवस्तु जाने के लिए तैयार हो गये । मार्ग में दो मास लगे । जब कपिलवस्तु के पास पहुँचे तो उनके स्वागत के लिए सारा नगर उमड़ पड़ा । यशोधरा पति के दर्शन के लिए मार्ग में जा बैठी । उसने दूर से देखा कि एक विभूति चली आ रही है, जिसका सिर मुंड़ा हुआ (केश-हीन) है, कन्धे पर पीला भिक्षुओं जैसा वस्त्र है, हाथ में मिट्टी का कमण्डल है । यशोधरा देखकर चकित हो गयी । क्या यही मेरे सिद्धार्थ हैं । जैसे-जैसे वह विभूति निकट पहुँची, यशोधरा को विश्वास होता गया कि वही सिद्धार्थ थे । ज्योंही सिद्धार्थ उस स्थान पर पहुँचे जहाँ यशोधरा खड़ी थी, वह मार्ग में आ हाथजोड़ उनके चरणों में गिर पड़ी और बोली 'सिद्धार्थ, मेरे स्वामी !" उसके नयनो से अश्रुधारा बहकर सिद्धार्थ के पैरों को धोने लगी।

जब राजा शुद्धोदन ने सुना कि सिद्धार्थ सिर मुंड़ाये, भिखारी जैसे भगवां वस्त्र पहने, हाथ में भिक्षा-पात्र लिए चला जा रहा है तो उनका हृदय विदीर्ण हो गया । वे क्रुद्ध हो अपने घोड़े पर सवार होकर सिद्धार्थ के पास पहुँचे । पुत्र को देखकर उनका क्रोध पानी-पानी हो गया । फिर भी वे बोले—"क्या मेरे सिद्धार्थ की यही दशा होने वाली थी कि वह जीर्ण वस्त्र पहने, सिर मुंड़ाए, भिक्षा-पात्र हाथ में लिए नीच

जाति के लोगो से अन्न की भिक्षा माँगते हुए यहाँ आवे ! पुत्र, तुम राज्य-लक्ष्मी के उत्तराधिकारी हो। तुम्हे अपने उप-युक्त राजसी वैभव से आना चाहिये था। यह क्या बात है ?"

उत्तर मिला, "पिताजी, मेरे वंश का यही नियम है ।" राजा बोले, "तुम्हारे वंश की सौ पीढियो मे किसी ने ऐसा नही किया ।" बुद्ध ने उत्तर दिया, "मैं सासारिक वश के बारे मे नही कह रहा हूँ। मैं बुद्धो के वश मे हूँ । उन्होने जो किया, वही मैं कर रहा हूँ।"

इसके बाद शुद्धोदन, यशोधरा और कपिलवस्तु के लोगो ने तथागत का उपदेश सुना । उनके पुत्र राहुल, भाई नन्द और सम्बन्धी आनन्द आदि कई लोगो ने दीक्षा ली। उनकी विमाता महाप्रजापति गौतमी और यशोधरा ने भी दीक्षा के लिए बहुत आग्रह किया । बुद्ध स्त्रियो को दीक्षा देने के पक्ष मे नही थे। परन्तु आनन्द ने कहा—"क्या धर्म स्त्रियो के लिए नही है ?" बुद्ध ने उत्तर दिया, "यदि वे अष्टाग मार्ग को स्वीकार करे तो उन्हे दीक्षा दी जा सकती है।" आनन्द ने गौतमी को शुभ समाचार सुनाया। फलतः महा प्रजापति गौतमी यशोधरा और अनेक शाक्य स्त्रियो ने भी प्रव्रज्या प्राप्त की।

जब कपिलवस्तु से बुद्ध अनूपिया नामक स्थान पर पहुँचे तो अनूपिया के कई कुलीन शाक्यो ने प्रव्रज्या ली । उनके साथ उपालि नामक एक नाई भी था । बुद्ध ने शाक्यो के उच्च कुल के गर्व को मिटाने के लिए पहले उपालि

को दीक्षा दी। भिक्षु-संघ में जाति-भेद को स्थान नही दिया गया।

धीरे-धीरे बुद्ध के शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। उनके व्यक्तित्व में अपूर्व आकर्षण था। वज्र के समान कठोर-हृदय मनुष्यों पर भी उनके वचनों का जादू का सा प्रभाव पड़ता था। अंगुलिमाल नामक एक हत्यारा था। उसने ९९ व्यक्तियों की हत्या की थी और वह उनकी अंगुलियों की माला बनाकर पहनता था। अपनी माला मे १०० व्यक्तियो की अगुलियां पूरी करने के लिए वह अपनी माता की हत्या करने के लिए उतारू हो गया। बुद्ध उसे मानवता के मार्ग पर लाने के लिए उसके घर की ओर चले। लोगों ने मना किया परन्तु वे अपने विचार पर दृढ़ रहे। उन्हें अकेले आते देख अंगुलिमाल चकित हो गया। वह शस्त्रास्त्र लेकर उनके पीछे चल पड़ा और कड़ककर बोला, "श्रमण"! बुद्ध बोले "आओ अंगुलिमाल, मैं खड़ा हूं।" वह बोला, "तुम शान्त कैसे खड़े हो?" "मैं शांत क्यों नही होऊं?" गौतम ने उत्तर दिया, "तुम असंयमी हो, मैं सयमी हूं।" अंगुलिमाल बड़ा प्रभावित हुआ। अपने शस्त्रास्त्र फक कर उसने साधुत्व ग्रहण किया।

यद्यपि बुद्ध अहिंसा और शान्ति की मूर्ति थे तथापि उनके विरुद्ध भी कई षड्यन्त्र रचे गये। उन्हे बदनाम करने के कई प्रयत्न किये गये। उनकी हत्या की कोशिश भी की गयी। राजगृह में एक बार जब वे भिक्षा के लिए निकले तो मदमत्त

मनुष्यहन्ता हाथी को उन पर छोड़ा गया। हाथी चिघाड़ता हुआ उनकी ओर दौड़ा। परन्तु बुद्ध अपने स्थान पर शान्त, सौम्य मुद्रा में खड़े रहे। हाथी वेग से आकर उनके पास पहुँचा। पहुँचकर रुका। उन्होने अपना हाथ उसकी सूंड पर रखा। हाथी उल्टा लौट गया। इसके बाद उनकी हत्या करने के लिए सशस्त्र व्यक्तियों को भेजा गया परन्तु उनकी गभीर मुद्रा से प्रभावित होकर हत्यारे भी लौट गये।

अस्सी वर्ष की आयु मे बुद्ध का कुशीनर अथवा कुशी-नगर के पास एक शालवन मे देहान्त होगया।

मृत्यु का समय नज़दीक जानकर उन्होने अपने शिष्यो को बुलाया और उन्हे अतिम उपदेश दिया। उनके प्रिय शिष्य आनन्द रोने लगे। बुद्ध ने सात्वना देते हुए कहा, "श क न करो, आनन्द। जो उत्पन्न होता है, उसका नाश होगा ही।"

जब उनसे यह पूछा गया कि आपके देहान्त के बाद सघ और धर्म की कैसे रक्षा होगी तो उन्होने कहा, "मेरा देहान्त हो रहा है, परन्तु मेरे उपदेश तुम्हारा मार्ग-दर्शन करते रहेगे। मैं कब तक जीवित रह सकता हूँ? तुम अपनी बुद्धि और विवेक से काम लो।"

उनके अन्तिम शब्द थे, "भिक्षुओ! सब वस्तुएँ क्षणभगुर हैं। प्रमादमुक्त होकर रहना जीवन का उद्देश्य है। निरन्तर प्रयत्नशील रहो।"

कुशीनगर के मल्लो ने बुद्ध की दाहक्रिया की। उनकी अस्थियाँ लिच्छवि, शाक्य, मल्ल, कोलिय आदि वशो मे स्मारक के रूप मे बाँट दी गयी। इनमें से कुछ आज भी भारतीय तथा बौद्ध जनता के ही नही बल्कि मानव-समाज के लिए वहुमूल्य स्मृति-चिह्नो के रूप मे सुरक्षित है।

बुद्ध की मृत्यु हो गयी परन्तु उनके उपदेश मानव-जाति के हृदय मे अमर है। उनसे सदा ही हमे करुणा, शान्ति और भ्रातृत्व की प्रेरणा मिलती रहेगी। जिन कुछेक महान् विभूतियों ने मनुष्य को पाशविक बर्बरता और हिंसा के मार्ग से हटाकर मानवता, क्षमा और करुणा के मार्ग की ओर प्रेरित किया है, उनमें युग-युग तक बुद्ध का स्थान प्रमुख रहेगा।

धम्मं शरणं गच्छामि।

: ५ :

# कन्फ्यूशियस

कुग फुत्से जिन्हे पाश्चात्य विद्वान् कन्फ्यूशियस कहते है, चीन के महान् दार्शनिक एवं सन्त हो गये है। आज चीन के करोड़ों नागरिक कुग फुत्से के अनुयायी है, यद्यपि वे साथ ही साथ बौद्ध तथा टाओ-मतावलम्बी भी है।

कुग फुत्से का जन्म चीन के लू नामक प्रान्त मे ईसा से ५५१ वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुआ था। कुग फुत्से के पिता शुह-लिवाग बड़े प्रसिद्ध योद्धा थे। वे सात फुट लम्बे और बड़े विशालकाय जवान थे। परन्तु वृद्धावस्था तक उनके कोई पुत्र नही हुआ। केवल ६ पुत्रियाँ ही थी। जब उनकी अवस्था लगभग ७० वर्ष की थी, तव कुग फुत्से का जन्म हुआ। इनका जन्म का नाम च्यू था और कुग उनके वश का नाम था। जब च्यू कु ग ३ वर्ष के हुए, तव उनके पिता का देहान्त हो गया।

यद्यपि च्यू कुग और उनकी माता बहुत निर्धन थे तथापि माता ने पुत्र की शिक्षा के लिए अच्छी व्यवस्था की। च्यू के शिक्षक उनकी प्रखर बुद्धि से बड़े प्रभावित हुए। बड़े-बड़े विद्वान् जिन तथ्यों को नही समझ पाते थे उनकी तह तक वे पहुँचने का प्रयत्न करते थे।

उन्नीस वर्ष की अवस्था मे उनका विवाह हो गया और उन्हें अपने निर्वाह के लिए नौकरी करनी पड़ी। वे अपने जिले में ही अन्न के कोठारो के कोठारी नियुक्त हुए। उन्होने थोड़े ही समय मे कोठारों की व्यवस्था मे इतने सुधार किये कि उन्हें खेतो के निरीक्षक के अधिक महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया गया। इस समय उनकी आयु केवल बीस वर्ष की थी। अपना काम योग्यता और मेहनत के साथ करके भी कुंग इतिहास, संगीत और कविता के अध्ययन के लिए समय निकाल लेते थे। उनकी विद्वत्ता का यश बराबर फैलता जा रहा था। सारे जिले से विद्वान् लोग आते और उनके यहाँ एकत्र होकर इतिहास, कविता और नीतिशास्त्र पर चर्चा करते थे। बहुधा उन्हे च्यू कुंग से अपने प्रश्नो के उत्तर और कठिनाइयों के हल मिल जाते थे। अब लोगों ने च्यू कुग को कुंग फुत्से अर्थात् दार्शनिक कुंग कहना शुरू किया। इतिहास मे वे इसी नाम से प्रसिद्ध है।

जब कुग तेईस वर्ष के हुए तब उनकी माता का देहान्त हो गया। उन्होने तुरन्त नौकरी छोड़ दी और तीन वर्ष तक मां का सोग (शोक) मनाने अपने घर चले गये। चीन में यह नियम था कि माता या पिता का देहान्त होने पर पुत्र को २७ मास या ३ वर्ष तक सोग मनाना चाहिये।

इन तीन वर्षों में कुंग ने अधिकतर समय अपने देश के इतिहास, दर्शन और काव्य के अध्ययन में लगाया। सोग की

अवधि पूरी हो जाने पर उन्होंने पुनः नौकरी नही की। वे विद्यार्थियों को शिक्षा देकर अपना निर्वाह करने लगे। धीरे-धीरे उनके विद्यालय मे छात्रों की संख्या लगभग ३००० तक पहुँच गयी। इस समय कुंग फुत्से की आयु चौंतीस वर्ष की थी। उनके एक चौदह वर्ष का पुत्र था, जिसका नाम "ली" था। एक बार उन्होने उससे पूछा, "ली क्या तुम कविता का अध्ययन करते हो?" ली ने झेंप कर उत्तर दिया, "नही"। पिता ने कहा, "जो कविता नही पढता वह मनुष्य संसार व जीवन की सुन्दरता को नही देख पाता।" उन्हे अपने पुत्र से बड़ी निराशा हुई। परन्तु उनके कई शिष्य बड़े योग्य और विद्वान् थे। इससे उन्हे बड़ा संतोष प्राप्त होता था।

जब कुग फुत्से ५२ वर्ष के हुए तो उन्हे चुंग टू का शासक बनने के लिए कहा गया। उन्होने चुग टू के लोगो का आग्रह स्वीकार कर लिया। कुछ ही समय में चुंग टू के लोग बड़े सुखी हो गये। इस पर लू के राजा ने उन्हे बुलाया और इसका रहस्य पूछा। कुंग फुत्से ने उत्तर दिया कि मैंने सज्जनो की कद्र की और दुर्जनो को दण्ड दिया। इससे सज्जनों को प्रोत्साहन मिला और लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बुराई से नुकसान होता है।

राजा ने प्रश्न किया कि आपने लोगो को सुखी कैसे बनाया? कुग ने उत्तर दिया कि मैंने बुद्धिमान मनुष्यों को जनता की शिक्षा और संभाल के लिए नियुक्त किया। उनके

क्या है, यह जाने और उसे करे, तथा बुराई का निराकरण करे।" उन्होंने कुछ देर बाद कहा, "भलाई एकान्तवासिनी नहीं है, उसके कई पड़ौसी हैं"—अर्थात् सामाजिक जीवन में बुराइयों और कठिनाइयो का सामना करके ही हम भलाई को वढावा दे सकते हैं, समाज को छोडकर नहीं।

१५ वर्ष तक खोज करने पर भी कुंग को कोई बुद्धिमान शासक नहीं मिला। अन्त में वे अपने वतन 'लू' लौट आये। उनके लौटने पर लू के नये राजा ने उन्हें अपना मुख्य परामर्श-दाता बनाना चाहा, परन्तु उन्होने यह पद स्वीकार नही किया। वे अब ६९ वर्ष के थे। बुढापे में अपने विचारो को एकत्र करना चाहते थे। उनके कई विद्वान् शिष्य थे, जो समय-समय पर उनसे चर्चा करने आते थे। कुंग फुत्से शिक्षा को वहुत महत्त्व देते थे। एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "क्या प्रत्येक के लिए शिक्षा लाभदायक है?" उन्होने उत्तर दिया, "ऐसा मनुष्य मिलना कठिन है, जिसने तीन वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की हो और जिसे फायदा न हुआ हो।" उनकी राय मे मनुष्य को आयु कितनी भी हो उसे शिक्षा से अवश्य लाभ होगा। अलबत्ता युवावस्था मे शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी होती है।

भलाई बुराई की चर्चा करते हुए उन्होने कहा कि "भलाई का वदला भलाई से और बुराई का बदला न्याय से देना चाहिये। आखिर बुराई और भलाई में अन्तर भी तो है।

यदि बुराई का वदला भी भलाई से दें तो भलाई का किससे दें ?" उन्होने कहा कि मनुष्य की यह इच्छा नहीं होनी चाहिये कि सब उससे प्रेम करें । उसे सज्जनो का प्रेम प्राप्त करना चाहिये और दुर्जनों की घृणा से नही डरना चाहिये ।

कुंग फुत्से नैतिक जीवन, सदाचार, मानव-कर्त्तव्य आदि व्यावहारिक विषयो पर बातचीत करना पसन्द करते थे। परन्तु बुद्ध के समान वे भी ईश्वर, आत्मा आदि विषयों पर चर्चा करना अनावश्यक समझते थे। वे कहते थे, "हम जीवन के बारे मे ही कुछ नही जानते, तो मृत्यु के बारे में क्या जान सकते है ?"

नैतिक जीवन, कविता, सगीत और इतिहास उनकी चर्चा के प्रिय विषय थे, विशेषकर 'प्रेम'। यह पूछने पर कि प्रेम क्या है, उन्होने कहा था, "मनुष्य-जाति से प्रेम करने को मैं प्रेम कहता हूँ।" प्रेम की जो दूसरी परिभाषा उन्होने की वह यह थी कि "मनुष्य कोई भी अच्छा कार्य लाभ या स्वार्थ के लिए न करे वरन् केवल इसलिए करे कि उसे करने मे उसे आनन्द प्राप्त होता है। प्रेम स्वय अपना पुरस्कार है। प्रेम से प्रत्येक वस्तु सुन्दर नजर आती है। जिस व्यक्ति का हृदय प्रेममय है, वह बुराई नही कर सकता।"

जब कुंग फुत्से ७० वर्ष के हुए तो उनके पुत्र "ली" का देहान्त हो गया। परन्तु ली का पुत्र "के" बडा विद्वान् था और

अपने दादा का लाड़ला भी था । कुंग फुत्से ने स्वय उसे पढाया था । एक दिन कुंग फुत्से 'शरद और वसन्त' नामक इतिहास-ग्रन्थ लिखने मे लगे हुए थे कि "के" चुपचाप उनके कमरे मे आया । उसने अपने दादा को लिखते लिखते आह भरते देखा । उसने पूछा, "दादाजी,आप निश्वास क्यो लेते है ? क्या आप इस आशका से चिन्तित हैं कि आपकी सन्तति आपके अनुरूप नही है और वह आपके यश को बनाये रखने मे असमर्थ होगी ?"

कुंग फुत्से अपने पौत्र की बुद्धिमत्ता से बड़े प्रभावित हुए । उन्होने उससे पूछा, "वत्स ! तुम मेरे मन के भावों को कैसे ताड गये ?" 'के' बोला, "आपने कई वार कहा है कि पिता लकडी एकत्रित कर ले और पुत्र उसे उठाकर ले जाने मे भी असमर्थ हो तो उसे योग्य पुत्र नही कह सकते । मैं कई वार सोचता हूँ कि क्या मुझ मे वह सामर्थ्य है कि मैं आपके कार्य को आगे वढा सकूँ ।"

कुंग फुत्से बडे प्रसन्न हुए । उनके मुख पर संतोष की मुस्कान चमक उठी और वे बोले "अब मुझे चिन्ता नही है । मेरी मेहनत अकारथ नही जायगी । मेरी शिक्षा फैलेगी । तुम उसे आगे बढा सकोगे ।" फिर उन्होने के' को स्नेह से अपने पास बिठलाया और बोले, बुद्धिमान मनुष्य किसी भी प्रकार की अति से वचता है । किसी भी वात मे आगे न वढना भी ठीक नही है, और सीमा से अधिक आगे वढ

जाना भी उचित नहीं है । समझदार व्यक्ति दोनो अतियो के बीच मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है।" 'के' ने पूछा, "मनुष्य नैतिक जीवन कैसे बिताये ?" संत कुग ने उत्तर दिया, "सम्यक् आचरण की ओर प्रेरित होना, भलाई की ओर बढाया हुआ क़दम पीछे नही हटाना, प्रेम मे आश्रय लेना, और कला मे विचरण करना—नैतिक जीवन का यही मार्ग है।" 'के' इस सूत्र का अर्थ तुरन्त समझ नही सका । वह धीरे-धीरे अपने मन मे ये शब्द दोहराता रहा । कुग फुत्से ने कहा—"बेटे, इन वाक्यो पर मनन करना ।"

अब संत कुग की जीवन-यात्रा समाप्त होने जा रही थी । ईसा पूर्व ४७९ मे उनका देहान्त हो गया । इस समय उनकी आयु लगभग ७३ वर्ष की थी ।

समस्त चीन देश में उनकी मृत्यु पर शोक मनाया गया । कई राजाओ ने भी उन्हे श्रद्धाञ्जलि अर्पित की ।

उनके कई शिष्य सोग मनाने के लिए उनकी क़ब्र के पास झोंपड़ियाँ बनाकर रहे और उनके उपदेशो का अध्ययन करते रहे । उनके पोते 'के' ने कई वर्ष तक परिश्रम करके अपने पितामह के सिद्धान्तो पर एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम 'मध्यममार्ग-सिद्धान्त' था । 'के' स्वयं भी अध्यापक था । उसके शिष्यो ने कुंग फुत्से के उपदेशों का चीन भर में प्रचार किया ।

कुंग फुत्से के देहान्त के लगभग १०० वर्ष बाद मैंग्त्से नामक दार्शनिक हुआ जिसने कुंग फुत्से के सिद्धान्तों के अनुसार सामाजिक और राजनैतिक जीवन को संगठित करने का प्रयत्न किया। वह कुग फुत्से को अपना गुरु मानता था। उसने कहा कि मेरे गुरु कुग फुत्से के अनुसार न्यायी शासक अपना शासन पाँच सिद्धान्तो के आधार पर चलाता है। वे ये है :—

(१) सदाशयता—जनता की भलाई के लिए कार्य करने की इच्छा।

(२) सदाचार—औरों के प्रति ऐसा व्यवहार न करना, जो हम अपने प्रति नही चाहते।

(३) विनय—अपनी प्रजा के प्रति विनयशील व्यवहार रखना।

(४) बुद्धिमानी—ज्ञान और सहानुभूति को अपना मार्ग-दर्शक बनाना।

(५) सचाई—अपने प्रत्येक कार्य में सचाई रखना।

वास्तव में व्यक्ति के जीवन में भी इन सिद्धान्तों का बड़ा महत्त्व है।

मैंग्त्से भी २० वर्ष तक ऐसे शासक की खोज करता रहा जो कुंग फुत्से के सिद्धान्तों के अनुसार राज्य करने को तैयार हो। किन्तु उसे कोई ऐसा शासक न मिला। जहाँ-जहाँ वह गया, वहाँ उसने कुंग फुत्से की शिक्षा का प्रचार किया।

कुग फुत्से को चीन का प्रथम महात्मा कहते है। मैन्त्से चीन का द्वितीय महात्मा कहलाता है।

कुग फुत्से के देहान्त के लगभग २५० वर्ष बाद एक चीनी शासक त्सिन ने चीन के सब छोटे-छोटे राज्यों को अपने राज्य मे मिला लिया और अपने आपको प्रथम सम्राट् के नाम से घोषित किया। उसने कुग फुत्से के और मैन्त्से के ग्रन्थों को एकत्र कर जला दिया। तीन महीने तक शास्त्रों की यह भयंकर होली जलती रही। वह कुग फुत्से का नाम ही मिटा देना चाहता था। परन्तु कई विद्वानो ने अपने पास के ग्रन्थो को मकानों की दीवारो मे चुनवा कर बचा लिया। कई वर्ष बाद जब त्सिन का देहान्त हो गया तो विद्वानों ने कुग फुत्से और मैन्त्से के ग्रन्थों को निकाल कर उनका फिर से प्रचार शुरू कर दिया।

बाद में कुग फुत्से को राष्ट्रीय गुरु मानकर उनकी मूर्तियां बनायी गयी और मन्दिरों मे प्रतिष्ठापित की गयी। आज करोड़ों चीनी भगवान बुद्ध के साथ-साथ कुग फुत्से की भी पूजा करते हैं और उनके सिद्धान्तों को मानते हैं।

यह कहना तो उचित नहीं होगा कि कुग फुत्से ने कोई नया धर्म चलाया। उन्होने स्वर्ग, नरक, आत्मा व परमात्मा के सम्बन्ध में कोई विचार संसार के सामने नही रखे। उन्होने व्यक्ति और समाज का जीवन किस प्रकार सुखी हो सकता है,

और मनुष्य किस प्रकार के शासन से सुखी हो सकते हैं, इन विषयो पर गंभीरता परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया और अपने चिन्तन और अनुभव के आधार पर ऐसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जिनसे मानव-जीवन सुखी हो सके।

उनके उपदेशो मे इस सिद्धान्त को प्राथमिक महत्त्व दिया गया है कि "किसी के साथ ऐसा व्यवहार न करो जैसा कि तुम अपने प्रति नही चाहते।" इसे स्वर्णिम नियम (The Golden Rule) कहते हैं और उस पर बुद्ध, महावीर, ईसा आदि अन्य सन्तो ने भी बल दिया है।

कुग फुत्से का दूसरा महान् सिद्धान्त मध्यम मार्ग का है। बुद्ध के समान वे भी लम्बे उपवास, कठोर तपस्या आदि के विरुद्ध थे।

कुग फुत्से आदर्श शिक्षक थे। वे अपने शिष्यों को अपने पुत्रों के समान मानते थे और उनकी शिक्षण-प्रणाली उसी प्रकार की थी जैसी कि प्राचीन भारतीय ऋषियो की थी। शिष्य उनके यहां आते, उनके साथ रहते, चर्चाएँ होती और विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान और व्यक्तित्व के सम्पर्क से शिष्यो की शिक्षा होती। इससे गुरु के विचार भी अधिक परिपक्व और स्पष्ट होते जाते।

आज न केवल चीन के करोडों नागरिक वरन् समस्त विश्व के शिक्षित और सुसस्कृत व्यक्ति कुग फुत्से या कन्फ्यूशियस

को श्रद्धाजलि अर्पित करते है। मानव-सभ्यता के इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा।

'सम्यक् आचरण की ओर प्रेरित होना, भलाई की ओर बढ़ाया हुआ क़दम पीछे न हटाना, प्रेम मे आश्रय लेना, और कला मे विचरण करना—नैतिक जीवन का मार्ग यही है।'

—'कुंग फुत्से'

: ६ :

# ईसामसीह

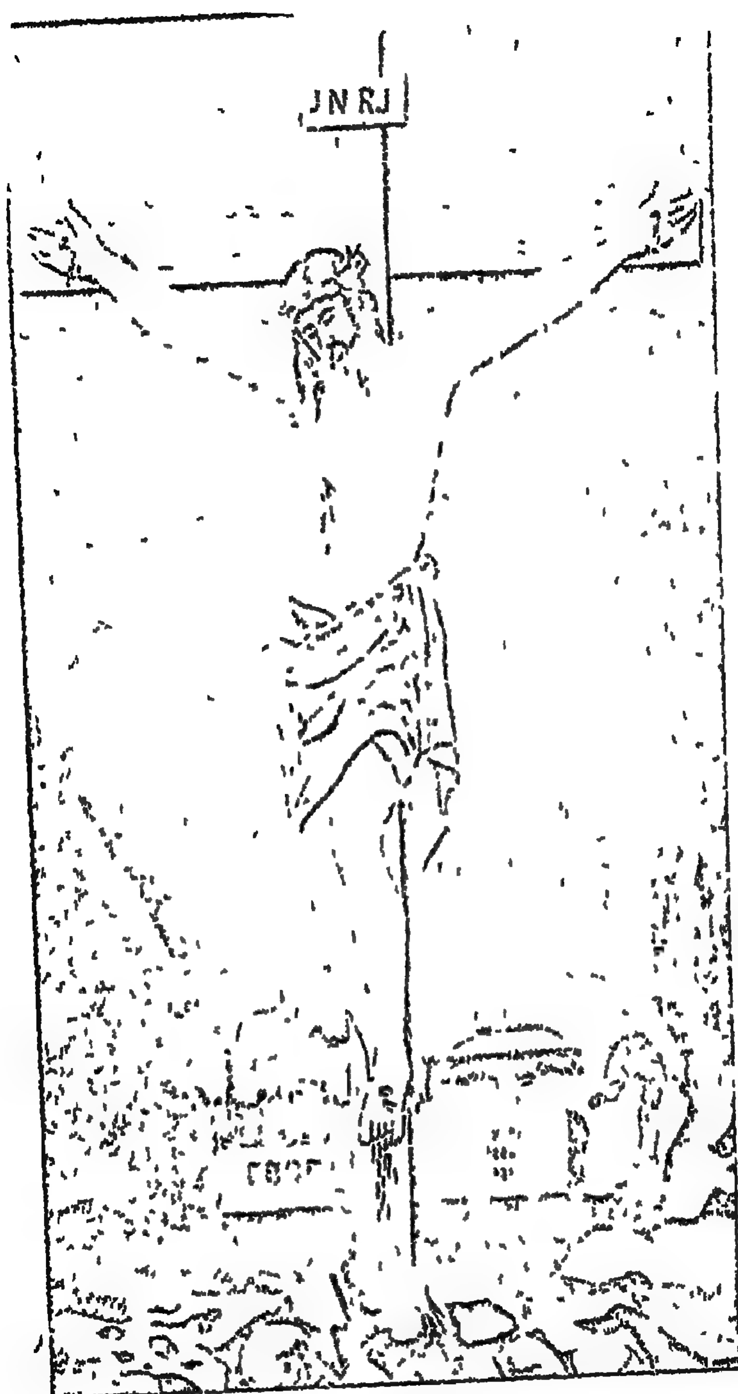
ईसा मसीह मानव-जाति के महान् उद्धारक हो गये है। आज सारे संसार में करोड़ों नरनारी उनके अनुयायी है। उनके उपदेशो ने मनुष्य को बर्बरता और अत्याचार के मार्ग से हटाकर उसे प्रेम, करुणा और भ्रातृत्व का मार्ग दिखलाया है। ईसा का जन्म आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व फ़िलस्तीन के प्राचीन नगर जेरुसलम के पास एक छोटे से गांव बेथलेहम मे हुआ था। इनके पिता यूसुफ नसरथ नाम के गांव मे रहते थे। परन्तु ईसा के जन्म के समय फिलस्तीन मे जन-गणना हो रही थी और सब लोगो को आदेश मिला था कि जिस स्थान से उनके वंशज निकले हों, वही जाकर वे अपना नाम लिखवायें। यूसुफ़ दाऊद के प्रसिद्ध वंश के थे और यह वंश पहले बेथलेहम में रहता था। अतएव यूसुफ अपनी पत्नी मरियम को लेकर नसरथ से बेथलेहम पहुंचे। मरियम के प्रसव का समय नजदीक था अतएव उसे सफर में बड़ा कष्ट हुआ और बेथलेहम पहुंचते ही उसे प्रसव-वेदना होने लगी। इस छोटे से गांव में इतने लोग इकट्ठे हो गये थे कि यूसुफ और मरियम को किसी सराय में जगह नही मिली। लाचार होकर वे एक सराय की गौशाला में सफाई कर वही ठहर गये। इसी गौशाला मे विश्व के कल्याणकर्त्ता ईसा का जन्म हुआ।

जब ईसा के जन्म का समाचार उस प्रदेश के दुष्ट राजा हिरोद को मिला तो उसके मन में आशंका उत्पन्न हुई कि कही यह बालक मेरा राज्य न छीन ले। अत: उसने कंस के समान अपने कर्मचारियों और सिपाहियों को आदेश दिया कि बेथलेहम मे दो वर्ष से छोटे प्रत्येक बालक को मार डालो। यूसुफ़ को इस अमानुषिक आदेश की भनक पडते ही वह मरियम और ईसा को लेकर मिश्र की ओर चल पड़ा। यह यात्रा बड़ी लम्बी और ख़तरे से पूर्ण थी। परन्तु मार्ग मे यूसुफ को एक धनी व्यापारी मिल गया जो अपने कारवाँ सहित व्यापार के लिए मिश्र जा रहा था। इस व्यापारी ने बड़े स्नेह से यूसुफ, मरियम और उनके शिशु के लिए सवारी की व्यवस्था कर दी।

जब हिरोद की मृत्यु हो गयी तो यूसुफ़ का कुटुम्ब मिश्र से लौटकर पुन. नसरथ मे आ बसा। ईसा का बालपन वही बीता। वे गाँव के बच्चो के साथ पढ़े और उन्ही के साथ खेले। घर मे वे अपने माता-पिता के आज्ञाकारी पुत्र थे। वे घर के काम-काज में माता की सहायता किया करते। पिता यूसुफ़ से उन्होने सुथारी का काम सीखा। उनके शील-स्वभाव का सब लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे कभी क्रोध या ज़िद नही करते थे, न कभी झूठ बोलते थे, और न कभी किसी को अपशब्द ही सुनाते थे। स्वभाव से वे अत्यन्त मृदुल और निस्स्वार्थ थे।

बचपन से ही उन्हे धार्मिक कृत्यो तथा चर्चा का शौक था। जब वे बारह वर्ष के हुए तो उनके माता-पिता उन्हे लेकर जेरुसलम गये। वहाँ यहूदियो का बड़ा त्यौहार पास्का या पसोवर बडी धूमधाम से मनाया जा रहा था। त्यौहार की भीड़भाड मे यूसुफ और मरियम का ईसा मे साथ छूट गया। जब घर लौटने का समय आया और ईसा नही मिले तो माता-पिता चिन्तित हुए। सब तरफ खोजने पर अन्त मे वे मन्दिर मे शास्त्रियों के साथ बैठे चर्चा करते मिले। उन्हे बच्चे की दार्शनिक जिज्ञासा देखकर आश्चर्य हुआ। मरियम ने ईसा से कहा, "बच्चे, तुम हमे छोडकर यहाँ क्यो चले आये ? तुम्हारे पिता और मैं बडी परेशानी से तुम्हे ढूंढ रहे थे।" ईसा ने सरलता से उत्तर दिया, "तुम मेरे लिए क्यों खोज कर रहे थे ? मैं तो यहाँ अपने परम पिता परमेश्वर के कार्य मे व्यस्त था।" माता-पिता इस रहस्यमय उत्तर का अर्थ समझ नही पाये। फिर तीनों जेरुसलम से रवाना होकर नसरथ लौट आये।

ईसा के जीवन के अगले १८ वर्षो के बारे मे कोई जानकारी नही मिलती। जब वे तीस वर्ष के हुए तो उन्होने जॉन नामक महात्मा से दीक्षा ग्रहण की। जॉन ईसा के सम्बन्धी थे। वे ऊँट के केशों के कपड़े पहनते थे, और अत्यन्त सादा वन्य भोजन करते थे। वे अभिमानी अमीरो और ढोगी धर्मगुरुओ को खरी-खरी सुनाते थे। हजारो व्यक्तियो ने उनके उपदेशो




"मेरे पिता इन्हे क्षमा करना क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।"

"ईसा

ने प्रभावित होकर उनके सामने अपने पापों का प्रायश्चित्त किया और उनसे दीक्षा ग्रहण की। ईसा उनके पास दीक्षा ग्रहण करने गये तो जान ने कहा, 'तुम तो महान् हो, मुझे तुमसे दीक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता है। तुम मुझसे क्या दीक्षा लेने आये हो?" ईसा ने उत्तर दिया "इस समय यही उचित है। हम सबको प्रत्येक धार्मिक कृत्य पूरा करना चाहिये।" जॉर्डन नदी के पानी में डुबकी लगा कर ईसा ने दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद वे पानी से बाहर निकलकर प्रार्थना कर ही रहे थे कि उन्हें सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

अब ईसा अपने जीवन की उद्देश्य-पूर्ति पर चिन्तन करने लगे। वे ४० दिन तक जंगल में रहे। न उन्होंने कुछ खाया, न पिया। केवल प्रार्थना और चिन्तन में व्यस्त रहे। ४० दिन के उपवास के बाद उन्हें भूख लगी। जैसे बुद्ध के सामने ज्ञान-प्राप्ति के समय विभिन्न प्रकार के प्रलोभन और आशंकाएँ आयी थीं वैसे ही ईसा के सामने भी आयीं। शैतान ने, जो मनुष्य को सदा ही पथभ्रष्ट करना चाहता है, उन्हें भाँति-भाँति के प्रलोभन दिये, तरह-तरह से उन्हें गुमराह करने की कोशिश की। उन्होंने एक आवाज सुनी—"यदि तू ईश्वर का पुत्र है तो तेरे आसपास जो पत्थर है, उन्हें आदेश दे कि वे रोटी बन जायें।" ईसा ने तुरन्त उत्तर दिया, 'शास्त्रों में लिखा है, कि मनुष्य रोटी पर ही नहीं जीता बल्कि ईश्वर के श्रीमुख से जो पवित्र शब्द निकलता है, उससे

जीता है।" इस उत्तर का अर्थ यह था कि मनुष्य के लिए खाना-पीना इतना आवश्यक नहीं है जितना कि भगवान की आज्ञा का पालन करना। हज़ार कठिनाइयाँ हों तो भी मनुष्य को ईश्वर की आज्ञा का पालन करना चाहिये।

फिर उनके सामने दूसरा प्रलोभन आया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे जेरुसलम के मन्दिर शिखर के पर खड़े हैं और शैतान कह रहा है, "यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो तो इस शिखर पर से कूद पड़ो, वह तुम्हे संभाल लेगा।" ईसा ने फौरन उत्तर दिया, "शास्त्रो मे लिखा है कि तू ईश्वर की जाँच न कर।" उनका आशय यह था कि मनुष्य को ईश्वर पर इतना दृढ विश्वास होना चाहिये कि बात बात में प्रकृति के नियमों का उल्लंघन कर वह यह नहीं सोचे कि ईश्वर हमारी रक्षा करेगा।

इसके बाद ईसा के सामने जीवन का वह सबसे बड़ा प्रलोभन आया जिसके आगे बड़े-बड़े महात्मा भी झुक जाते हैं। उन्हें ऐसा लगा मानो वे एक ऊँचे पर्वत पर खड़े हैं, संसार के सब राज्य और सारा वैभव उनके सामने है और शैतान उनसे कह रहा है, 'यह सब वैभव, ये सारे राज्य मैं तुम्हें दे सकता हूँ, यदि तुम मेरा आधिपत्य स्वीकार करलो। इन सब पर तुम्हारा अधिकार हो जायगा। संसार में सर्वत्र तुम्हारा यश फैल जायगा। धन, दौलत, राज्य, वैभव, यश सब मेरे अधिकार में हैं। जो मेरी आज्ञा मानते हैं, उन्हें ये सब मिल सकते हैं।" आशय यह था कि यदि मनुष्य ईश्वर का अर्थात्

धर्म और सचाई का मार्ग छोड़ दे और शैतान का अर्थात् अनीति का, बदी का मार्ग स्वीकार कर ले तो उसे संसार का वैभव मिल सकता है। ईसा इस प्रलोभन से भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने उत्तर दिया, "शैतान, तुम मेरे सामने से चले जाओ। शास्त्रों में लिखा है कि तू ईश्वर का ही आधिपत्य स्वीकार कर और उसी की सेवा कर। मैं ईश्वर को छोड़ कर तेरी सेवा नहीं कर सकता।"

इस प्रकार किसी भी प्रलोभन या भय से ईसा विचलित या आशंकित नहीं हुए। शैतान ने हार मान ली। ईसा ने जंगल से लौटकर भोजन किया। अब वे मानव को ईश्वर का संदेश देने के लिए तैयार थे।

इन दिनों वे केपरनाम नामक गाँव में रहते थे। इस गाँव के पास ही एक पर्वत था। एक दिन संध्या के समय ईसा इस पर्वत पर चढ़ने लगे। दिन भर उन्हें श्रोताओं और भक्तों ने घेर रखा था। वे शान्तिपूर्ण वातावरण में चिन्तन करने के लिए पर्वत पर चढ़ गये और रात्रि भर पर्वत पर ही रहे। भोर होने पर भी वे प्रार्थना करते रहे। सूर्योदय होने पर उनके मुख्य शिष्य पर्वत पर चढ़कर उनसे आ मिले। ईसा ने उन्हें सन्देश दिया और उनका कर्तव्य समझाया। जब वे अपने शिष्यों से बात कर रहे थे, एक बहुत बड़ी भीड़ पहाड़ की तलहटी में एकत्रित हो गयी। ये सब लोग पर्वत पर चढ़ने लगे। पर्वत की दो चोटियाँ थीं और उनके बीच

एक पठार था। ईसा पठार पर उतर आये और वहाँ उन्होंने सब आगन्तुकों का स्वागत किया। वे सब लोग उनके उपदेश के लिए लालायित थे। ईसा ने उन्हें जो उपदेश वहाँ दिया, वह 'पर्वत पर के व्याख्यान' (Sermon on the Mount) के नाम से प्रसिद्ध है। इस व्याख्यान मे ईसा के उपदेशों का सार आ जाता है। इसकी मुख्य-मुख्य बातें ये हैं —

"धन्य हैं वे जिनका मन शुद्ध है क्योंकि उन्हें परमेश्वर के दर्शन होंगे।

"धन्य है वे जो दयालु है, क्योंकि वे ईश्वर की दया प्राप्त करेंगे।

"धन्य हैं वे जिन्हे धर्म की भूख है, क्योंकि उनकी भूख तृप्त हो जायगी।

"धन्य हैं व जो नम्र है, क्योंकि उन्हे स्वर्ग का राज्य मिलेगा।

"धन्य हैं वे जो मेल कराने वाले हैं, क्योंकि वे ईश्वर की सन्तान कहलायेंगे।

"तुमने यह सुना है कि हत्या मत करो, हत्या करने वाला दण्ड का भागी होगा। किन्तु मैं कहता हूँ कि जो बिना कारण अपने भाई पर क्रोध करता है, वह भी दण्ड का भागी होगा। तुमसे यह कहा गया है कि 'आँख के बदले आँख और दांत के

बदले दाँत', किन्तु मैं कहता हूँ कि दुष्टता का विरोध मत करो, बल्कि जो तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड लगावे उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो। यह कहा गया है कि तुम अपने पडौसी से प्रेम करो और अपने शत्रु से घृणा, परन्तु मैं कहता हूँ कि तुम अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो, जो तुम्हे शाप दे, उन्हे आशीर्वाद दो। जो तुमसे घृणा करे, उनका भला करो और जो तुमसे कठोर व्यवहार करे और तुम पर अत्याचार करे उनके लिए ईश्वर मे प्रार्थना करो, ताकि तुम परमपिता परमेश्वर की सन्तान कहलाओ, क्योकि उसका सूर्य सज्जनो और दुर्जनों दोनो को ही प्रकाश देता है, तथा उसके मेघ न्यायी और अन्यायी सबके लिए बरसते हैं।

"यदि तुम मनुष्यो को उनकी भूलों के लिए क्षमा कर दोगे तो परमपिता परमेश्वर तुम्हारी गलतियाँ भी माफ कर देगा। यदि तुम मनुष्यों की गलतियाँ माफ नही करोगे तो तुम्हारी गलतियाँ भी माफ नही की जायँगी।

"जब तुम दान दो तब उसका ढोल न पीटो जैसा कि ढोगी लोग पीटते है—केवल इसलिए कि लोग उनकी बडाई करे। तुम दान दो तो तुम्हारे बाये हाथ तक को पता न लगे कि दाहिना हाथ क्या कर रहा है। जब तुम प्रार्थना करो तो ढोगियों की तरह सभा मे एकत्र होकर मत करो बल्कि अपनी कोठरी में द्वार बन्द कर एकान्त मे परमपिता परमेश्वर की प्रार्थना करो।

"जब तुम उपवास करो तो ढोंगियों की तरह तुम्हारे मुँह पर उदासी न छायी रहे क्योंकि वे मुँह उतार कर लोगों को बतलाना चाहते है कि वे उपवास कर रहे हैं।

"कोई भी मनुष्य एक साथ दो स्वामियों की सेवा नही कर सकता। या तो वह एक से प्रेम करेगा और दूसरे से घृणा, या फिर दूसरे से अपनत्व रखकर पहले को तुच्छ समझेगा। ईश्वर और माया दोनो की एक साथ आराधना सम्भव नही है। इसलिए मैं कहना हूँ कि तुम अपने प्राणों की चिन्ता न करो कि हम क्या खायेंगे और क्या पियेंगे, न अपने शरीर की चिन्ता करो कि हमे क्या पहनने को मिलेगा। आकाश के पक्षियों को देखो—वे न तो बोते हैं, न काटते है, और न खलिहान में अनाज एकत्र करते है, फिर भी ईश्वर उन्हें खाने को देता है। क्या तुम्हारा मूल्य उनसे अधिक नही है?

"वस्त्रों की चिन्ता तुम क्यो करते हो? लिली के फूलों को देखो। वे कैसे उगते है? न वे परिश्रम करते है, न कातते है, फिर भी जो परिधान परमेश्वर ने उन्हें दिया है, वह परम वैभवशाली बादशाह सुलैमान को भी नसीब नहीं हुआ।

"इस बात की चिन्ता छोड़ दो कि हम क्या खायेंगे, क्या पियेंगे, या क्या पहनेंगे क्योंकि उस परम पिता को ज्ञात है

कि तुम्हें वे सब वस्तुएं चाहिये। तुम तो ईश्वर के राज्य और धर्म की खोज मे लगे रहो। ये सब वस्तुएं तो तुम्हे स्वत. मिल जायँगी। अस्तु, कल की चिन्ता न करो, क्योंकि कल का दिन अपनी चिन्ता आप कर लेगा, आज के लिए तो आज को ही चिन्ता बहुत है।

"जो व्यवहार तुम दूसरे लोगो से चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरो के प्रति करो। अच्छे वृक्ष के अच्छे फल लगते है और बुरे वृक्ष के बुरे।

"जो कोई मेरे उपदेश सुनेगा और उनके अनुसार आचरण करेगा उसे मैं उस बुद्धिमान मनुष्य के समान समझूंगा, जिसने ऐसी सुदृढ़ चट्टान पर अपना मकान बनाया कि वह वर्षा, बाढ और आंधी आने पर भी नही गिरा।"

यहूदियों के प्राचीन धर्म के आधार 'न्याय और नियम' थे ईसा के उपदेशों के आधार थे 'प्रेम और क्षमा'। उनका कहना था कि "पाप से घृणा करो, पापी से नही; नियमों को कठोरता से लागू मत करो।" एक बार सवेरे के समय ईसा जेरुसलम के प्रसिद्ध मन्दिर में कुछ लोगो को उपदेश दे रहे थे। इतने मे कई यहूदी एक व्यभिचारिणी स्त्री को लेकर आये और बोले, "हजरत मूसा का नियम तो यह है कि ऐसी स्त्री पर पत्थर बरसाने चाहिये, आप क्या कहते है?" ईसा नीचे झुक कर अपनी अँगुली से जमीन पर कुछ लिखने लगे, मानो

उन्होने सुना ही न हो। वे लोग बराबर ईसा से पूछते रहे। तब ईसा सिर उठा कर बोले, "तुममे से जो निष्पाप हो वह इस स्त्री पर पहले पत्थर मारे।" यह कह कर ईसा फिर झुककर जमीन पर लिखने लग गये और अभियोग लगाने वाले अपनी ही आत्मा के द्वारा दोषी ठहराये जाने पर एक एक कर वहाँ से खिसक गये। ईसा अकेले रह गये। स्त्री उनके सामने खडी थी। जब उन्होने सिर उठाकर देखा कि वहाँ और कोई नही है तो बोले "हे स्त्री, वे तुझ पर अभियोग लगाने वाले कहाँ है? क्या किसी ने भी तुझे दोषी नही ठहराया है?" उसने कहा, "भगवन्, किसी ने नहीं।" ईसा ने कहा, "मैं भी तुझे दोषी नही ठहराता। जा, अब पाप से बचना।"

ईसा की क्षमाशीलता और पतितो की ओर सहानुभूति का एक और उदाहरण एक वेश्या का है। ईसा के उपदेशों का उस पर बडा प्रभाव पडा और उनकी पूजा के लिए वह सुगधित द्रव्य की डिब्बी लेकर उनके पास पहुँची। वे सायमन नामक व्यक्ति के घर भोजन करने बैठे थे। पश्चात्ताप के मारे वेश्या की आँखो से अश्रुधार बह चली। उसके गर्म आँसू ईसा के पैरो पर गिरने लगे। स्त्री ने भक्ति-भाव सहित अपने सुन्दर लम्बे बालो से ईसा के पाँव पोछे और उन पर सुगंधित लेप मला। सायमन धर्मशास्त्र का पण्डित था। उसने मन ही मन कहा, "ये ईसा यदि नबी होते तो इन्हे पता लग जाता कि यह स्त्री कौन है। वे ऐसी पतिता से सेवा ग्रहण कर उसे सम्मान

प्रदान कर रहे है।" ईसा सायमन के मन की बात ताड गये और बोले "सायमन मुझे तुम से कुछ कहना है। एक आदमी के दो कर्जदार थे। एक से वह ५००) मांगता था और दूसरे से ५०)। उन दोनो के पास चुकाने को कुछ नहीं था। अत उसने दोनो का कर्ज माफ कर दिया। बतलाओ कि उन दोनो मे से किसको अपने उपकारी के प्रति अधिक स्नेह होगा?" सायमन ने उत्तर दिया, 'मेरा खयाल है कि जिसका अधिक कर्ज माफ कर दिया गया वह अपने उपकारी के प्रति अधिक कृतज्ञ होगा।" ईसा ने कहा, 'तुम ठीक कहते हो। मैं तुम्हारे घर आया। तुमने मुझे पैर धोने के लिए पानी भी नहीं दिया। परन्तु उस स्त्री ने अपने आंसुओ से मेरे पैर धोये और अपने बालो से उन्हे पोछा। तुमने मेरे सिर मे भी तेल नहीं डाला परन्तु इसने मेरे पैरो पर सुगधित लेप मला। इसकी भक्ति महान् है। इसके सब पाप क्षमा कर दिये गये हैं।" फिर उन्होने उस स्त्री से कहा "तेरे पापो का प्रायश्चित्त हो गया। तेरी श्रद्धा ने तुझे बचा लिया।"

एक और कहानी पापियो के प्रति उनके हृदय की सहानुभूति प्रकट करती है। एक बार उन्होने कुछ ऐसे लोगो को अपने पास बुलाया जो पापी माने जाते थे। कुछ धर्म के ठेकेदार लोग कानाफूसी करने लगे कि यह पापियो का स्वागत करता है और उनके साथ खाना खाता है। इस पर ईसा ने कहा "तुममे से कौन ऐसा है जो १०० भेडो का मालिक होकर

भी यदि उनमें से एक भेड खो जाय तो वाकी वची हुई ६६ भेड़ो को जंगल मे छोडकर उस खोई हुई भेड़ को नही ढूंढ़ेगा, और उसके मिल जाने पर प्रसन्न होकर उससे स्नेह नही दर्शावेगा। इसी प्रकार स्वर्ग में एक पापी के प्रायश्चित्त करने पर आनन्द मनाया जायगा, न कि ६६ सदाचारी व्यक्तियों पर जिन्हें कि पश्चात्ताप की आवश्यकता ही नही है।" इस तथ्य को समझाने के लिए उन्होंने एक कहानी सुनायी जो इस प्रकार है:—

"एक आदमी के दो वेटे थे। एक बार छोटे लड़के ने अपने पिता से कहा, 'पिताजी, मुझे मेरा हिस्सा दे दीजिये।' पिता ने अपनी सम्पत्ति का बंटवारा कर उसे उसका हिस्सा दे दिया। कुछ दिन वाद छोटा लड़का अपनी सारी जायदाद लेकर दूर विदेश गया। वहाँ उसने विलास और फ़िज़ूलख़र्ची मे अपनी सारी सम्पत्ति वरबाद कर दी। वाद में वहां भयंकर अकाल पड़ा। अब उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। लाचार होकर उसने एक दूसरे नागरिक के यहाँ नौकरी कर ली। उसे खेतो मे सुअर चराने का काम सौंपा गया। उसे इतनी भूख लगती कि भूख के मारे वह भूसा तक खाने को तैयार हो जाता। परन्तु खाने के लिए वह भी उसे न मिला। उसने सोचा, 'मेरे पिता के यहाँ कितने ही नौकरों को पेटभर रोटी मिलती है और यहाँ मैं भूखों मर रहा हूँ। मैं अपने पिता के पास जाऊंगा और उनसे कहूंगा, 'पिताजी, मैंने भगवान के प्रति और आपके प्रति अपराध किया है और मैं

आपका पुत्र कहलाने योग्य नही हूँ। मुझे अपना नौकर बना लीजिये।'

"यह विचार कर वह अपने पिता के पास लौट गया। पिता ने उसे दूर से देखा और उसे अपने बच्चे पर दया आ गयी। उसने दौड़कर लडके को गले लगा लिया। पुत्र ने कहा 'पिताजी, मैं भगवान् और आपके समक्ष पापी हूं। मैं आपका पुत्र कहलाने योग्य नही हूँ।' परन्तु पिता ने अपने नौकरों से कहा, 'अपने यहां जो अच्छे से अच्छा अँगरखा हो वह लाकर उसे पहनाओ। इसके हाथ मे अँगूठी पहनाओ, और पैरो मे जूते। और उसके बाद अच्छे से अच्छा भोजन बनाओ। हम सब लोग खाएं-पीएं और खुशी मनाएं। मेरा लड़का मर गया था, वह फिर जी उठा है। वह खो गया था, अब मिल गया है।' सब लोग खुशियां मनाने लगे।

"उस समय उस व्यक्ति का बडा लडका खेत में काम कर रहा था। जब वह खेत से लौटकर घर के निकट पहुँचा तो गाना बजाना सुनकर उसने एक नौकर को बुलाया और पूछा कि क्या बात है। नौकर ने उत्तर दिया, "आपके भाई लौट आये हैं और आपके पिता ने उनके लौट आने की खुशी मे भोज की व्यवस्था की है।' बडे लडके को बहुत बुरा लगा और वह अन्दर नही गया। पिता ने बाहर आकर उसे अन्दर बुलाया। उसने रूठकर कहा, 'पिताजी, कई वर्षों से मैं आपकी सेवा कर रहा हूं, कभी मैंने आपकी आज्ञा का उल्लंघन नही किया। परन्तु आपने कभी मुझे

अपने मित्रों के साथ खुशी मनाने के लिए प्रोत्साहन नहीं दिया। पर जिस भाई ने विलास और फिजूलखर्ची में आपकी सम्पत्ति बरबाद कर दी, उसकी आप इतनी आवभगत कर रहे हैं। पिता ने कहा, 'बेटे, तुम तो मेरे साथ ही हो। जो कुछ मेरे पास है, वह तुम्हारा ही है। परन्तु यह तुम्हारा भाई एक प्रकार से मर गया था और अब जी उठा है। उसे हमने खोकर पुनः प्राप्त किया है, इसलिए आनन्द मनाना उचित ही है।"

ईसा हृदय की सरलता को बहुत महत्त्व देते थे। एक बार उनके शिष्य पूछने लगे, "ईश्वर की दृष्टि में कौन सबसे महान् है"। ईसा ने एक बच्चे को बुलाया और उसे सामने बिठाकर बोले, "मैं तुम से सच कहता हूँ कि जब तक तुम्हारा हृदय-परिवर्तन न हो जाय और तुम छोटे बच्चों के समान सरलहृदय न हो जाओ, तुम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं प्राप्त कर सकते। जो भी अपने आपको इस छोटे बच्चे के समान नम्र बनायेगा, वही ईश्वर की दृष्टि में सबसे बड़ा माना जायगा।"

ईसा को वे लोग बिलकुल पसन्द नहीं थे जिन्हें अपने धर्मात्मा होने का अभिमान हो। उन्होंने एक बार यह उदाहरण सुनाया :—

"दो मनुष्य प्रार्थना करने मन्दिर में गये। एक ने खड़े होकर यह प्रार्थना की, "भगवान्, मैं तुझे धन्यवाद देता हूँ कि मैं दूसरे मनुष्यों की तरह नहीं हूँ जो लोभी, अन्यायी तथा

व्यभिचारी है। न मैं इस साथ वाले व्यक्ति के समान पतित हूँ। मैं सप्ताह मे दो बार उपवास करता हूँ और अपनी सारी जायदाद पर जकात अर्थात् नियमित दान देता हूँ। दूसरा आदमी दूर खड़ा रहा। उसको इतना भी साहस नही हुआ कि अपनी दृष्टि ऊपर उठावे। वह अपनी छाती पीट कर केवल इतना बोला, "ईश्वर मुझ पापी पर दया कर।" यह उदाहरण सुनाकर ईसा बोले, "मैं तुमसे कहता हूँ कि परमेश्वर ने दूसरे व्यक्ति की प्रार्थना स्वीकार की क्योकि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने आपको ऊँचा मानता है, गिरेगा और जो अपने आपको नम्र बनाता है, वह ऊँचा उठाया जायगा।"

ईसा को रूढिवादिता बिलकुल पसद नही थी। यहूदियो का प्राचीन नियम था कि सप्ताह मे एक दिन कुछ काम न किया जाय। इस दिन को वे 'सबथ' कहते थे। आजकल ईसाई इसी आदेश के अनुसार रविवार को सब काम बन्द कर विश्राम करते है। एक बार जब कि ईसा अनाज के खेतो मे से जा रहे थे, उनके शिष्यो को बहुत भूख लगी। उन्होने खेत मे से भुट्टे तोडे और अपने हाथो से मलकर अनाज के दाने साफ कर खा लिये। कुछ रूढिवादियो ने ईसा से कहा कि 'सबथ' के दिन तुम्हारे शिष्य यह क्या कर रहे है। ईसा स्वय 'सबथ' के दिन बीमारो का इलाज करते थे। उस पर भी रूढिवादियो ने आपत्ति की, और आपस में उनकी बुराई करने लगे कि "यह कैसा सत है, जो धर्म के नियमो का उल्लघन

करता है।" ईसा ने इन आलोचनाओं का उत्तर इस प्रकार दिया—"'सवथ' को मनुष्य के लिए वनाया गया था न कि मनुष्य को 'सवथ' के लिए।"

जव ईसा ने पर्वत पर का उपदेश दिया था, तव उनकी आयु ३० वर्ष से कुछ अधिक थी। इसके वाद वे भिन्न-भिन्न स्थानों पर उपदेश देते रहे। दिनोंदिन उनके अनुयायियो की संख्या बढ़ती गयी। उनके उपदेश से श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाते थे। वे सरल भाषा में व्याख्यान देते थे और अक्सर कहानियों द्वारा अपना अर्थ समझाते थे।

कहते हैं कि उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से कई वीमारों को अच्छा किया। कहा जाता है कि वे अन्धे की आँख को छूते और उसे दृष्टि मिल जाती थी। कोढ़ी के शरीर से उनका हाथ लगते ही उसकी कोढ़ मिट जाती थी, तथा पक्षाघात (लकवा) का रोगी उनके स्पर्श करते ही अच्छी तरह चलने फिरने लग जाता था। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने मुर्दों को जिला दिया। लेज़ेरस नामक युवक का उदाहरण वहुत प्रसिद्ध है, जिसे कि कब्र में गाड़ दिया गया था। ईसा ने कब्र का पत्थर हटवा कर कहा, 'युवक, उठ जाओ' और वह जी उठा।

कहते हैं कि इन चमत्कारों से वहुत लोगों को उन पर श्रद्धा हो गयी। इसके विपरीत यहूदी धर्मगुरु उनसे वहुत रुष्ट

हो गये और उन्हे शैतान का शिष्य मानने लगे। उन्होने ईसा के विरुद्ध मंत्रणा शुरू कर दी कि यह हमारे धर्म का शत्रु है, इसे दण्ड मिलना चाहिये। जैसे-जैसे ईसा का यश फैलने लगा, वैसे-वैसे उनके विरोधी उनके विनाश के लिये षड्यन्त्र रचने लगे। ईसा के मन में बराबर खटका था कि उनके प्राण खतरे मे हैं। फिर भी वे निर्भयता से अपने उपदेशों का प्रचार करते रहे।

पसोवर का त्यौहार नजदीक था। ईसा यह जानते थे कि यदि मैं जेरुसलम आऊँगा तो मेरे शत्रु सगठित होकर मुझे फंसाने का प्रयत्न करेंगे। फिर भी उन्होंने जेरुसलम जाकर त्यौहार के समय उपदेश देने का निश्चय किया। उनके शिष्य सोचते थे कि यह जेरुसलम-यात्रा उनकी विजय-यात्रा होगी।

उन दिनों यहूदियों में यह परम्परागत विश्वास था कि एक मसीह अर्थात् उद्धारक का जन्म होगा जो यहूदियो का राजा बनकर उन्हे रोम की अधीनता से मुक्त करेगा। ईसा के शिष्य मानते थे कि ये ईसा ही वह मसीह है, और इसलिए उन्हे यह विश्वास और आशा बंध गयी थी कि इस बार जब ईसा जेरुसलम जायेंगे तो उन्हे राजमुकुट पहनाया जायगा।

ईसा की यात्रा ने वास्तव मे एक विजय-यात्रा का रूप ले लिया। मार्ग में जगह-जगह उनके दर्शनो के लिये भीड़ लग गयी। स्थान-स्थान पर उनका जयजयकार हुआ। कई

लोगो ने उनके मार्ग मे अपने चोगे विछा दिये। जब जेरुसलम नगर दीखने लगा तो लोग जयनाद कर उठे, "धन्य है वह राजा जो ईश्वर के नाम पर आ रहा है। उसका राज्य अमर हो, ईश्वर का यशगान हो।"

परन्तु ईसा का हृदय उदास था। उन्हे इन लोगो के भ्रमपूर्ण आत्मविश्वास पर अफ़सोस हो रहा था, और इससे भी ज्यादा उन लोगों की कट्टरता पर जो उनके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे थे। उन्होने जब ईसा को जेरुसलम में प्रवेश करते देखा तो उनके मन ईर्ष्या और विद्वेष से विचलित हो उठे। उन्होंने ईसा को गिरफ़्तार कराकर दण्डित कराने का निश्चय कर लिया। उन्होने ईसा पर एक ओर तो यहूदी धर्म के विरुद्ध प्रचार करने का आरोप लगाने का इरादा किया, और दूसरी ओर यह तय किया कि रोमन शासक पाइलेट से शिकायत की जाय कि ईसा रोमन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए जनता को प्रेरित कर रहा है। यहूदियो के मुख्य धर्मगुरुओं ने ईसा के विरुद्ध षड्यन्त्र का नेतृत्व किया।

ईसा जेरुसलम के बाज़ार मे से निकले तो लोग उन्हे देखने के लिए घरो की खिड़कियो और छतों पर इकट्ठे हो गए। कुछ लोग चिल्ला उठे—'यह कौन है" ? उत्तर मिला "यह नसरथ से आये हुए नवी ईसा हैं"। ईसा वाजार से होते हुए सीधे यहूदियो के मुख्य मन्दिर की ओर चल पड़े। मन्दिर के चौक में पहुँच कर उन्होंने देखा कि ईश्वर की

आराधना के स्थान को एक हाट बना दिया गया है, जहां लोग बैल भेड़, कबूतर आदि प्राणियों को बलिदान के लिए अत्यन्त महंगे भाव पर बेच रहे हैं। ईसा ने एक रस्सी को बँटकर उनका कोड़ा बनाया, सब जानवरों को चौक से बाहर भगा दिया, और बेचने वाले मनुष्यों को बुरी तरह फटकार कर वहां से निकाल दिया। जिन मेजों पर इन लोभी व्यापारियों ने अपने पैसे रखे थे उन्हें उन्होंने पलट दिया और बोले-'हटाओ यह सब, मेरे पिता परमेश्वर के घर को सौदेबाजी का स्थान मत बनाओ।" उनका रोष इतना प्रभावशाली था कि मन्दिर के धर्मगुरु भी सहम गये। ईसा उनसे कहने लगे, "शास्त्रों में क्या यह नहीं लिखा है कि मेरा (ईश्वर का) घर सब राष्ट्रों के लिए प्रार्थना-स्थल है? परन्तु तुमने इस पवित्र स्थान को लुटेरों का अड्डा बना दिया है।"

इसके बाद वहां एकत्रित जनता की ओर उनका ध्यान गया। कहते हैं कि वहां भी उन्होंने बीमारों और अपाहिजों का इलाज किया। लोग उनकी जयजयकार करने लगे और इस प्रकार यशस्वी होकर ईसा मन्दिर से लौटे। परन्तु उनका हृदय उदास था। उन्हें विश्वास हो गया था कि मेरा अन्त-समय निकट है।

शहर के एक मकान की ऊपर की मंजिल में ईसा ने पसोवर का त्यौहार मनाया। यह उनका अन्तिम भोजन था। ईसा के बारह शिष्य थे। इस समय उन्होंने पानी और तौलिया

लेकर उनमें से प्रत्येक के पैर धोये। इसके बाद वे सब भोजन करने बैठे। ईसा ने इस समय अपने शिष्यों को साफ़-साफ बतलाया कि मैं अब तुमसे विदा होने वाला हूँ। भोजन के समय उन्होने कहा, कि "तुम मे से ही एक मुझे धोखा देगा।" शिष्यो को यह सुनकर बहुत आश्चर्य और खेद हुआ। उनमे एक का नाम जूडास था। वह ईसा के पास ही बैठा था। उसने धीमे से पूछा "स्वामी, मैं तो वह नही हूँ ?" ईसा ने उसकी ओर उदास मुख से देखा और बोले, "अपने मुँह मे ही तुम ने कह दिया है।" जूडास उसी समय बाहर चला गया। बाद मे उसी ने ईसा को गिरफ्तार करवा दिया। भोजन के बाद ईसा ने अपने शिष्यो को बडी गम्भीरता से अत्यन्त सारगर्भित उपदेश दिया और उनका साहस बढाया।

फिर ईसा उठे और शहर छोड़कर एक पुराने बगीचे मे गये जो एक पहाडी के ढाल मे था। उस पहाड़ी पर जैतून के बहुत से पेड थे, इसलिए उसे जैतून वाला पर्वत (Mount of Olives) कहते थे। चाँदनी रात मे जैतून के पेडों की छाया चट्टानो और घास पर पड रही थी। बड़ा शान्त समय था। ईसा अपने शिष्यो को ठहरने के लिए कहकर आगे बढे और व्यथित हृदय से भगवान से प्रार्थना करने लगे। उनके शिष्य थकान और उदासी के मारे सो गये। ईसा ने दो बार उन्हे उठाया और प्रार्थना करने को कहा, परन्तु वे

फिर सो गये। ईसा ने बार-बार भगवान से प्रार्थना की और अपने आपको उसकी इच्छा पर सौंप दिया। इतने में जूडास सिपाहियों को लेकर वहाँ आ पहुँचा। वह इस स्थान से परिचित था, क्योंकि ईसा अक्सर वहाँ ईश्वर की आराधना के लिए आते थे। जूडास ने आगे आकर ईसा का चुम्बन किया। यह सिपाहियों को इशारा था। सिपाहियों ने ईसा को पकड लिया। उनके शिष्य सिपाहियो का विरोध करने लगे। उनमें से एक सायमन पीटर ने एक व्यक्ति पर तलवार भी चला दी और उसका कान काट लिया। ईसा ने उसे रोका और कहा, "तलवार म्यान मे डाल दो। क्या मैं अपने परम पिता की दी हुई दु ख की कडवी घूंट न पियूं ?" सिपाही ईसा को बाँधकर मुख्य धर्मगुरु के महल की ओर ले चले। वहाँ धर्मगुरुओ और पुरोहितो की सभा मे उन्हे अभियुक्त बनाकर प्रश्न पूछे गये। ईसा ने इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही दिया। अन्त मे उनसे पूछा गया, "क्या तुम ईश्वर के पुत्र हो।" ईसा ने उत्तर दिया, "हाँ"। इस पर सब चिल्लाने लगे, "अब कुछ पूछने की आवश्यकता नही। इसे मृत्युदण्ड मिलना चाहिये।" उन्होने ईसा के उत्तर को ईश्वर का अपमान माना कि यह व्यक्ति अपने आपको ईश्वर का पुत्र कहता है। यह निश्चय हुआ कि ईसा को मृत्युदण्ड दिया जाय। परन्तु धर्मगुरु स्वय किसी को मृत्युदण्ड का आदेश नही दे सकते थे। फिलस्तीन के रोमन शासक की स्वीकृति आवश्यक थी। यह कार्यवाही अगले दिन होगी, यह निश्चय

हुआ और ईसा को सिपाहियो को सौप दिया गया। सिपाहियो ने उनके साथ बडी निर्दयता का व्यवहार किया। उन्होने ईसा के मुंह पर बार-बार थूका और तमाचे लगाये। फिर भी उनके चुप रहने पर वे उनकी आँखे बाँध कर एक एक करके थप्पड लगाने लगे, यह कह-कह कर कि "उद्धारक महाशय, बतलाओ किसने तुम्हारे थप्पड जमायी है।"

सुबह ईसा को रोमन शासक पाइलेट के महल ले जाया गया। उन पर यह अभियोग लगाया गया कि "वे जनता को भडका रहे है कि रोमन-साम्राज्य को कर न दिया जाय। वे अपने आपको यहूदियों का राजा भी कहते हैं।" पाइलेट ने ईसा से पूछा, "क्या तुम यहूदियों के राजा हो ?" ईसा ने उत्तर दिया, "मेरा राज्य इस ससार का नही है, मैं ससार मे सत्य का साक्षी बनने के लिए आया हूं।" पाइलेट ने धर्मगुरुओ से कहा, 'मैं तो इसे दोषी नही मानता"। इस पर धर्मगुरुओ ने कहा, "यह लोगों को विद्रोह के लिए भडका रहा है।" पाइलेट ने जिम्मेदारी से छूटने के लिए ईसा को राजा हिरोद के पास भेज दिया। ईसा ने हिरोद के प्रश्नो का उत्तर नही दिया तो उसने उन्हे फिर पाइलेट के पास भेज दिया। पाइलेट ने धर्मगुरुओ और एकत्रित भीड से कहा, "मैं इसे दोषी नही पाता। इसने कोई कार्य ऐसा नही किया कि इसे मृत्यु-दण्ड दिया जाय। अतएव मैं इसे कोडे लगवा देता हूँ ताकि भविष्य मे इसका व्यवहार सुधर जाय।"

किन्तु सब लोग चिल्ला उठे, 'नही, इसे मत छोड़िये। इसे मृत्युदण्ड दीजिये।" पाइलेट को आशंका हुई कि यदि मैं इस जनता की बात नही मानूंगा तो विद्रोह खडा हो जायगा। उसने सिपाहियों को आदेश दिया कि इसे चाबुक लगाओ। सिपाहियों ने ईसा के कपड़े उतारकर उनके निर्दयता से चाबुक लगाये। उन्होंने शान्ति से यह भयंकर मार सह ली। इससे सिपाहियों का क्रोध और बढ गया। वे ईसा को अपनी बारकों में ले गए। उन्हे लाल रग का चोगा पहनाया और कांटों की एक डाली का मुकुट बनाकर उनके सिर पर रखा। पाइलेट ने इस दशा मे ईसा को भीड के सामने खडा किया और बोला, "अपने बादशाह को देखो।" भीड़ ने फिर चिल्ला-चिल्ला कर ईसा की मृत्यु की मांग की। अन्त मे लाचार होकर पाइलेट ने कहा, "इसे तुम ले जाओ और मृत्युदण्ड दो। मैं तो इसे दोषी नही मानता।"

अब ईसा को क्रूस पर लटका कर मृत्यु-दण्ड देना तय रहा। सबसे जघन्य जुर्म करने वाले हत्यारे और डाकुओं को इस प्रकार दण्डित किया जाता था। सिपाहियों ने तुरन्त दो बल्लियों को जोडकर क्रूस तैयार किया। ईसा अपने क्रूस को उठाकर मृत्युस्थान पर चले, जिसका नाम कैल्वरी पर्वत था। दण्ड देने से पहले उन्हे कुछ नशीली वस्तु मिली मदिरा पिलायी जाने लगी। उन्होने इसे पीने से मना कर दिया। वे अपने दर्द को होश-हवास मे सहन करना चाहते थे। फिर

सिपाहियो ने उन्हे क्रूस पर सुलाकर, उनके दोनों हाथो मे कीले ठोककर उन्हे क्रूस की लकड़ी के साथ बाँध दिया। एक कीला उनके पाँव मे भी ठोका गया। फिर क्रूस को खडा कर धरती मे गाड़ दिया। ईसा की खिल्ली उड़ाने के लिए क्रूस पर यह लिख दिया गया—"नसरथ का ईसा, यहूदियो का राजा।" जबकि लोग इस प्रकार उन्हे सता रहे थे, ईसा ने प्रार्थना की, "मेरे पिता (परमेश्वर) इन्हे क्षमा करना, ये नही जानते कि ये क्या कर रहे है।" क्रूस पर लटकाने के बाद भी धर्मगुरुओ, सिपाहियो तथा अन्य लोगो ने उनको बहुत ताने दिये।

कई घण्टे क्रूस पर टंगे-टंगे असह्य यातनाएँ सहकर विश्व को इस महान् विभूति का देहान्त हो गया। मरते-मरते उनके अन्तिम शब्द थे, 'पिता, मैं अपनी आत्मा को तेरे हाथो मे सौंपता हूँ।" उस समय उनकी माता, कुछ अन्य स्त्रियाँ और एक शिष्य शोक-सतप्त होकर यह दृश्य देख रहे थे। असहनीय कष्ट सहते समय भी ईसा ने अपने आतता-यियो पर क्रोध नही किया। उन्होंने उन्हे क्षमा कर दिया। अपने प्राण देकर उन्होने मानवजाति के सामने उत्कृष्ट सात्विक चरित्र का आदर्श रखा।

'जो तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ लगाये, उसके सामने अपना दूसरा गाल भी कर दो।'

७ :

# पैग़म्बर मुहम्मद

इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब का जन्म सन् ५७१ ईस्वी मे अर्थात् आज से कोई १४०० वर्ष पूर्व अरब देश के मक्का नामक नगर मे हुआ। उस समय अरब का सामाजिक जीवन अस्त व्यस्त हो रहा था। अरबवासियो मे शराब, जुआ और व्यभिचार का बोलबाला था। एक-एक व्यक्ति कई-कई विवाह करता था। अपनी विमाता तक से विवाह करना अनुचित नही माना जाता था। पत्नियो के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से सम्बन्ध होना भी पुरुष के लिए कोई बुरी बात नही मानी जाती थी। कई बार लोग अपनी लडकियो को बाल्यावस्था मे ही मार डालते थे।

वे सैकडो देवी-देवताओं की पूजा करते थे। कहते है कि उनके ३६० देवी-देवता थे, जिनमे हबल देवता मुख्य था। इन देवताओ के अलावा उस समय के अरब भूत, जिन आदि मे भी विश्वास करते थे।

उन दिनो अरब मे कई स्वतन्त्र कबीले थे जो अक्सर आपस में लड़ते रहते थे, छोटे-छोटे झगडो से विभिन्न क़बीलो मे युद्ध हो जाते थे, जो वर्षों और कभी-कभी

पीढियो तक चलते थे। वहाँ कोई सुदृढ़ शासन-व्यवस्था नही थी।

ऐसे समय मे मुहम्मद साहब का जन्म हुआ। उनके पिता अब्दुल्ला मक्का के कुरैश वश के एक प्रसिद्ध खानदान के थे। दुर्भाग्य से उनका देहान्त पैग़म्बर के जन्म से पहले ही हो गया था। इस पर उनके दादा अब्दुल मुत्तलिब ने मुहम्मद और उनकी माता आमिना की परवरिश का ज़िम्मा लिया। उस समय उच्च कुल के बच्चों की माताएँ स्वयं अपने बच्चों को दूध नही पिलाती थीं। इस रिवाज़ के अनुसार मुहम्मद को हलीमा नामक स्त्री को सौप दिया गया जो कि रेगिस्तान में रहती थी। धाय हलीमा ने उन्हे दो वर्ष तक बहुत प्रेम से रखा और फिर उन्हे लेकर माता आ-मिना से मिलने आयी। आमिना ने बच्चे को बहुत स्वस्थ और प्रसन्न देखकर उसे दो वर्ष के लिए और हलीमा के पास रहने दिया। रेगिस्तान की हवा और सादगी-पूर्ण जीवन से मुहम्मद का स्वास्थ्य अच्छा बन गया।

छठे वर्ष में वे मक्का लौट आये परन्तु उन्हे माँ का प्यार अधिक नही मिल सका। वह उन्हे लेकर अपने पति की कब्र देखने मदीना गयी। यहाँ एक महीना रह कर मक्का लौटने के लिये प्रस्थान किया। परन्तु मार्ग में ही उनका देहान्त हो गया। इस समय मुहम्मद पूरे छः वर्ष के भी नही थे और माँ के साथ केवल दो महीने ही रहे थे।

दादा अब्दुल मुत्तलिब ने उन्हें प्यार से रखा। परन्तु दो वर्ष बाद उनका भी देहान्त हो गया। अब मुहम्मद के लालन-पालन का भार उनके ताऊ अबू तालिब पर पड़ा। उन्हे मुहम्मद से बहुत स्नेह था। वे उन्हे अपने लड़कों से भी अधिक मानते थे। परन्तु अबू तालिब ग़रीब थे। इसलिए मुहम्मद का सारा जीवन अनेक कठिनाइयों से पूर्ण रहा। वे अक्सर भेड़ें चराने के लिए जाते थे।

जब वे बारह वर्ष के थे तो उन्होंने अपने ताऊ अबू तालिब के साथ सीरिया की यात्रा की। इस यात्रा में उन्हे जीवन के बहुत उपयोगी अनुभव हुए।

लगभग बीस वर्ष की अवस्था से वे अरब सौदागरों के कारवानो मे सम्मिलित होने लगे। वे इतने जिम्मेदार और विश्वसनीय थे कि वे अल अमीन अर्थात् 'अत्यन्त विश्वसनीय' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उनकी सचाई और ईमानदारी से मक्का के व्यापारी और उनके कार्यकर्त्ता अत्यन्त प्रभावित हुए।

जब मुहम्मद साहब २४, २५ वर्ष के थे तो खदीजा नामक एक धनी विधवा ने उनकी सचाई की प्रसिद्धि सुनकर उन्हे अपना गुमाश्ता नियुक्त किया। ख़दीजा के कारवां व्यापार के लिए दूर दूर जाते थे। मुहम्मद भी इन कारवानो के साथ जाने लगे। वे बहुत ही सावधानी से अपनी मालकिन के हितों की रक्षा करते थे। खदीजा ने उनकी कर्तव्य-

निष्ठा और सच्चरित्रता पर मुग्ध हो कर उनसे विवाह कर लिया। उनका विवाहित जीवन बड़ा सुखी रहा। बीबी ख़दीजा से दो पुत्र और चार कन्याएँ हुईं। परन्तु दुर्भाग्यवश दोनों लड़के वचपन मे ही चल बसे।

विवाह करके मुहम्मद ने ख़दीजा का कारवार सँभाल लिया और वडी योग्यता से उसकी व्यवस्था की। परन्तु धीरे-धीरे उनके स्वभाव में गंभीरता और विचारशीलता बढ़ने लगी। जब वे लगभग ४० वर्ष के हुए तो अक्सर मक्का के पास हिरा नामक गुफा में जाकर एकान्त में जीवन और संसार की समस्याओं पर विचार करने लगे। कई बार वे वहाँ वैठे-बैठे ध्यान-मग्न हो जाते। यहीं उन्हे ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्हे एक सदेश मिला। इसके वाद वे घर लौट आये। उन्हें अपने आप पर विश्वास नही होता था। उन्होने घर आकर ख़दीजा को अपना अनुभव सुनाया और कहा, "खदीजा, मुझे क्या हो गया है?" ख़दीजा ने बड़े सम्मान से कहा, "आप खुश होइये और दृढता रखिये। मुझे पूरी आशा है कि आप इस राष्ट्र के पैगम्बर होगे। ईश्वर आपको कभी लज्जित नही होने देगा।" मुहम्मद को ख़दीजा के उत्साहवर्धक शब्दो से वडा सन्तोप हुआ। फिर वे थकान के मारे सो गये। नीद खुलने पर वे दूसरे ही व्यक्ति थे। उन्हे 'तौहीद' अर्थात् ईश्वर एक है—इस सिद्धान्त पर पूरा विश्वास हो गया और वे जान गये कि वे ईश्वर के पैगम्बर थे।

उनके ताऊ अबू तालिब ने उन्हे ईश्वर की प्रार्थना करते देखा तो आश्चर्यान्वित होकर कहने लगे, "बेटा, तुम किसकी इबादत करते हो?" मुहम्मद ने कहा, "अल्लाह ताऽला की। वह एक ही अल्लाह है। मैं उसी का धर्म मानता हूँ। अपने पूर्वपुरुष इब्राहीम भी यही मानते थे। अल्लाह ने मुझे आज्ञा दी है कि उनके सच्चे धर्म का सदेश दुनियाँ को दूं। क्या आप इस सच्चे धर्म को नही स्वीकार करेंगे?"

अबू तालिब ने कहा "पुत्र, मै अपने पूर्वजो का धर्म नही छोड सकूंगा। परन्तु तुम्हारी मै पूरी तरह से सहायता करूंगा।" मुहम्मद के मन मे यह दुख बना रहा कि वे अपने प्रिय चाचा को सत्पथ पर नही ला सके। परन्तु अबू तालिब जब तक जिये, चाचा-भतीजे में बडा गहरा स्नेह बना रहा और उन्होने मुहम्मद की हर कठिनाई मे पूरी सहायता की। उनके लडके अली जो मुहम्मद के दामाद भी थे, उनके शिष्य बन गये।

प्रारम्भ मे मुहम्मद कुरैश वश के विरोध के कारण अपने धर्म का खुलकर प्रचार नही करते थे। उन्होने जिस व्यक्ति को अपने उपदेश का पात्र समझा उसे तौहीद का सन्देश दिया और ईश्वर की प्रार्थना करने की विधि बत-लायी। अक्सर वे और उनके शिष्य मक्का नगर के बाहर जाकर ईश्वर की प्रार्थना करते थे। धीरे-धीरे उनके अनु-यायियों की संख्या बढती गयी। तीन वर्ष के बाद उन्होने

खुल्लमखुल्ला उपदेश देना शुरू कर दिया। पहले उन्होंने अपने सम्बन्धियों को बुला कर एक ईश्वर पर विश्वास करने के लिए और मूर्ति-पूजा छोड देने के लिए कहा। परन्तु उन्होंने मुहम्मद की हँसी उडायी और चले गये। इसके बाद एक बार सफा नामक पर्वत पर चढकर उन्होंने क़ुरैश वंश के लोगों को एकत्रित किया और कहा कि ईश्वर के अलावा और कोई देवता नही है। इस पर लोग उनके और भी पक्के विरोधी बन गये। विशेषकर कुरैश के मुखियाओं के हृदय में मुहम्मद के प्रति घृणा और शत्रुता भड़क उठी। मक्का के कवियों ने उनके विरुद्ध भद्दी और अशिष्ट कविताएँ बनायी। लोगों ने मुहम्मद से कहा कि, "बिना चमत्कार हम कैसे मानें कि तुम पैगम्बर हो। यदि तुम आकाश को गिरा सको या तुम ईश्वर को हमें अपने सामने दिखला दो या तुम्हारा स्वर्गारोहण हम देख ले, या तुम्हारे लिए सोने का मकान बन जाय तो हम तुम्हारी बातों पर विश्वास करे।" इस पर उन्हें उत्तर मिला, "ईश्वर का यशगान हो। मैं केवल एक मनुष्य हूँ, उस ईश्वर का एक सन्देश-वाहक मात्र।" उनके यह कहने पर कि, "तुम मुर्दो को जिला दो, या और कोई चमत्कार बतला दो," मुहम्मद ने उत्तर दिया, चमत्कार तो ईश्वर के हाथ है। वास्तव में सारा विश्व, विश्व की एक एक वस्तु चमत्कार है। क्या तुम में से कोई एक मक्खी को भी बना सकता है? उसकी आँखें, पर, टाँगें, इन्द्रियाँ, सभी क्या चमत्कार नही है? सूर्य, तारों, पृथ्वी और चन्द्रमा को

देखो। क्या तुम या तुम्हारे देवता उन्हे बना सकते है? दिवा-निशा की, प्रकाश और अन्धकार की धूप-छाया को देखो। यदि केवल प्रकाश ही रहे, तो तुम्हे धूप से रक्षा कहाँ प्राप्त होगी। यदि सदा रात्रि ही रहे, तो तुम्हारे खेतो व बगीचो का क्या होगा?

अपनी क्षमता पर विचार करो कि क्या तुम स्वय अपनी पाचन-क्रिया पर या अपने रक्त-प्रवाह ( circulation ) पर या अपने श्वासोच्छ्वास पर नियन्त्रण कर सकते हो? अपने मन पर ही विचार करो। विचार तथा भावना क्या तुमने बनायी है या कि वे ईश्वर की रचना हैं?

धरती से होने वाले उत्पादन को ही लो। वर्षा, सूर्य और चन्द्र को कौन आदेश देता है कि वे इस उत्पादन मे सहायक हो? क्या यह तुम्हारा करतब है या तुम्हारे कल्पित देवताओं की माया है? ऋतुओ के परिवर्तन और पवन की गति पर विचार करो। कौन उनकी गति को नियन्त्रित कर सकता है? ईश्वर या तुम? किसके नियम से जहाज समुद्र में चलते है और पक्षी हवा मे उडते हैं? सृजन और निसृजन का विधाता कौन है? तुम्हारे देवता कि जिनमे अपना भला करने की भी शक्ति नही है, या कि वह ईश्वर?

यदि तुम सचाई से विचार करोगे तो तुम्हे यह मालूम हो जायगा कि जो कुछ मुहम्मद कहता है, वह सत्य है। ईश्वर एक है, जो शाश्वत है, दयालु है, विश्व का निर्माता है

और सबका पालनहार है। वह अनुपम है। न उसके कोई सन्तान है और न कोई माता-पिता। उसकी आज्ञा मानो और अपने भाइयों से प्रेम करो, न्याय करो और लज्जास्पद बातों से बचो। शरीर और मन दोनों से पवित्र रहो। अपने माता-पिता के प्रति प्रेम रखो, उनकी सेवा करो और अपने सम्बन्धियों के प्रति उदारता का व्यवहार करो। ग़रीबो, यात्रियों, अनाथों और दीन-दुखियो को भोजन दो। किसी निरपराध व्यक्ति को मत मारो। जो एक भी व्यक्ति को अन्याय से मारता है, वह मानव-मात्र का हत्यारा है। जो एक भी मनुष्य के प्राणों की रक्षा करता है वह मानव-मात्र को अपयश से वचाता है। अशिष्ट व्यवहार मत करो। अपव्यय से बचो। ईश्वर फिजूलखर्च, अन्यायी तथा शान्ति भग करने वाले लोगों से प्रेम नही करता। जो सबसे अधिक सदाचारी है, वह ईश्वर की दृष्टि मे सबसे अधिक सम्माननीय है। सभी मनुष्यो के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करो। अभिमान मनुप्य का शत्रु है। क्रोध आवे तो उसका दमन करो। अनाथों की जायदाद की सँभाल करो, उसे अन्याय से दवा न लो। स्त्रियो के भी अपने अधिकार हैं। उनके साथ न्याय और प्रेम का व्यवहार करो। सत्कार्य ही तुम्हारा स्वर्ग है और दुराचरण तुम्हारा नरक। ईश्वर उदार तो है ही परन्तु न्यायी भी है। वह तुम्हारे पापो को क्षमा कर देगा; यदि तुम मृत्यु से पहले उनके लिए पश्चात्ताप करोगे। इसलिए समय रहते अपने पापों का प्रायश्चित्त करो। जो पिछले सब पैगम्बरों ने किया

है, उस पर मुहम्मद अन्तिम मुहर लगा रहा है। पिछले नियमो की तस्दीक़ करके वह उन्हे पूर्ण बना रहा है।"

मुहम्मद अनपढ़ थे, परन्तु उनके मुख से उपदेश के जो शब्द निकलते थे, वे अत्यन्त चामत्कारिक तथा प्रभावोत्पादक थे। ईश्वरीय प्रेरणा से ससार और जीवन के रहस्यो का जो उद्घाटन उन्होने किया और मानव-जीवन के लिए जो नैतिक सिद्धान्त उन्होने बतलाये, उनका संकलन "कुरान" के नाम से प्रसिद्ध है। इस महान् ग्रन्थ को लोग सम्मान से कुरान-शरीफ़ या कलामे मजीद भी कहते हैं। क़ुरान एक श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। मुहम्मद साहब के जमाने मे मक्का मे कई अच्छे कवि थे और उस समय अरबो को कविता मे बड़ी रुचि थी। परन्तु उनकी श्रेष्ठतम् कविता भी क़ुरान शरीफ़ की तुलना मे फीकी लगती थी। कुरान की एक सुरा अर्थात् अध्याय की जोड़ की रचना भी कोई कवि नही कर सकता था।

जिस किसी व्यक्ति ने सचाई से तथा खुले दिल से क़ुरान का सदेश सुना, वह मुहम्मद का अनुयायी अर्थात् मुस्लिम बन गया। इस प्रकार कई लोग उनके शिष्य बन गये। परन्तु क़ुरैशियो पर मुहम्मद के उपदेशो का असर नही पड़ा क्योकि उनके मन मे पूर्वाग्रह और द्वेप घर किये हुए थे। वे शराब, जुआ और अंध-विश्वास छोड़ने को तैयार नही थे। वे और भी अधिक कट्टरता से मुहम्मद का विरोध करने लगे और

तरह-तरह से मुहम्मद को सताने के लिए मंत्रणा करने लगे। पहले तो उन्होंने अबू तालिब पर दबाव डालने का प्रयत्न किया कि वह अपने भतीजे को प्रचार करने से रोके। कुछ मुखिया अबू तालिब के पास गये और बोले, "अबू तालिब, तुम्हारा भतीजा हमारे देवताओं को गालियां देता है, हमारे धर्म मे गलतियाँ निकालता है, हमें बेवकूफ कहता है और अपने पुरखाओं को पथभ्रष्ट बतलाता है। इसलिए या तो तुम उसे रोको या हमें उससे निपटने दो।" अबू तालिब ने नम्रता और विनय से उनका क्रोध शांत किया। मुहम्मद पूर्ववत् लोगों को ईश्वर के मार्ग पर लाने का भरसक प्रयत्न करते रहे। क़ुरैशी दोबारा अबू तालिब से मिले पर फिर भी अबू तालिब मुहम्मद को रोक नही सके। तब वे तीसरी बार अबू तालिब के पास गये और बोले, "अबू तालिब, तुम एक बुजुर्ग, समझदार और प्रतिष्ठित व्यक्ति हो। हमने तुम से कहा था कि अपने भतीजे से कहो कि वह अपनी हरकतों से बाज आये परन्तु तुमने हमारे कहने पर ध्यान नही दिया। अब हम यह नहीं सह सकते कि वह हमारे पुरखों की बेइज्ज़ती करे, हमें बेवक़ूफ बनावे और हमारे धर्म मे गलतियाँ निकाले। उसे रोको, नही तो तुम्हारे और उसके दोनों के लिए ठीक नही होगा।"

अब तो अबू तालिब बहुत परेशान हुए। उन्होने मुहम्मद को बुलाया, सारी परिस्थिति समझायी और कहा, "अब

तुम्हारे और मेरे दोनो के लिए बडी कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। तुम्हे चाहिये कि हम दोनों को इस कठिनाई से निकालो। क्यो मेरा जीवन असह्य बनाते हो ?"

मुहम्मद ने बड़ी नम्रता, प्रेम और साथ ही दृढता से उत्तर दिया, "ताऊजी, यदि वे मुझे अपने कर्त्तव्य से हटाने के लिए मेरे दाहिने हाथ में सूर्य और बायें हाथ में चन्द्र भी रख दे तो भी मैं अपना कार्य नही छोड़ूंगा। मैं बराबर अपने कार्य मे लगा रहूँगा। या तो ईश्वर मेरी सहायता करेगा या मैं अपना कर्त्तव्य पूरा करने मे प्राण दे दूंगा।"

अबू तालिब के हृदय पर मुहम्मद की सचाई और दृढता का बड़ा प्रभाव पडा। उन्होने मुहम्मद से कहा, "बच्चे, जो सिद्धान्त तुम्हे प्रिय है, उनका प्रचार करो। मैं तुम्हारा साथ नही छोडूंगा।"

कुरैश वश के अत्याचार बढने लगे। इन अत्याचारों से तग होकर बहुत से मुसलमान अबीसीनिया जाने लगे। मुहम्मद के कट्टर विरोधियों में एक उमर नाम का व्यक्ति भी था। उसने यह तय किया कि इन सब खराबियों की जड़ मुहम्मद का ही खात्मा कर दिया जाय। इस इरादे से वह तलवार लेकर मुहम्मद के घर पहुँचा। वे सफा नामक पहाड़ी के पास एक मकान लेकर रहते थे। वहाँ वे और उनके मुख्य शिष्य, जिनमे अबू तालिब के पुत्र अली, मुहम्मद के मित्र अबू बकर तथा उनके चाचा हमजा भी थे, मिलकर

प्रार्थना करते थे। मार्ग मे उमर को एक व्यक्ति मिला, जो उनका इरादा जान गया। उसने कहा, "उमर, तुम पहले अपने घर को तो संभालो।" वास्तव में उमर की बहिन फ़ातिमा और उसके पति भी मुस्लिम थे। उमर को यह पता लगा तो वह पहले अपनी बहिन के यहाँ गया। वे दोनो उस समय प्रार्थना कर रहे थे। उमर ने पूछा, "तुम लोग क्या बोल रहे थे ?" उन्होंने उत्तर दिया, "कुछ नही।" उमर को क्रोध आ गया। उसने कहा, "मैं जानता हूँ कि तुम मुहम्मद के अनुयायी हो।" यह कह कर उसने अपने बहनोई को दण्ड देने के इरादे से पकड़ लिया। फ़ातिमा पति की सहायता करने गयी तो उमर ने उसके भी ज़ोर से मार दी। उसके सिर से रक्त बह निकला। इतने पर भी वे दम्पति दृढ़ रहे और बोले, "हाँ, हम इस्लाम को मानते है, तुम जो चाहो करो।" बहिन के सिर से रक्त की धार बहती देख उमर का क्रोध शान्त हो गया और उसने स्नेह से कहा, "मुझे बताओ कि तुम क्या पढ़ रहे थे।" उन्होंने धर्म-पुस्तक "क़ुरान-शरीफ़" की आयते उसे दी। उन्हें पढ़कर वह इस्लाम के उदार विचारो से बहुत प्रभावित हुआ। उसका मुहम्मद के प्रति दृष्टिकोण बदल गया और वह सीधा उस मकान पर गया जहाँ मुहम्मद अपने साथियो सहित विद्यमान थे। उसके हाथ में नंगी तलवार थी। जब वह द्वार पर पहुँचा तो मुहम्मद बोले, "उमर, किस इरादे से आये हो ?" उमर ने उत्तर दिया, "ईश्वर के पैग़म्बर, मैं इस्लाम पर ईमान प्रकट करने आया हूं।" सबके हृदय उल्लास से भर

गये और सारा स्थान 'अल्लाहो अकबर' अर्थात् 'ईश्वर महान् है' के नारों से गूंज उठा।

मक्का वालो के अत्याचार उग्र से उग्रतर होते गये। उन्होने मुहम्मद के वंश का ही बहिष्कार करने का निश्चय कर लिया। उनके साथ विवाहादि सामाजिक सम्बन्ध ही नही, लेन देन भो बन्द कर दिया गया। दो तीन वर्ष तक मुहम्मद के वश वाले मक्का के पास की घाटियो मे रहे। अन्त में वे भूखो मरने लगे। लाचार होकर वे पेडो के पत्ते और जूतो का चमड़ा उबाल कर खाने लगे। बच्चे दूध के लिए बिलखते परन्तु उन्हे ज़रा सा भी दूध नही मिल पाता। उनके माँ-बाप हड्डियो के ढांचे भर रह गये। इस पर जुहैर नामक व्यक्ति को जो मुहम्मद की बुआ का लड़का था, दया आयी। उसने कुछ मित्रो से सलाह को और काबे में एकत्र होकर बहिष्कार के घोषणा-पत्र को फाड़ दिया। मुहम्मद के वंश के लोग मक्का लौट आये। मुहम्मद ने फिर अपने धर्म का प्रचार शुरू कर दिया। मक्का वालो के अत्याचार भी चलते रहे। इसके कुछ ही महीने बाद अबू तालिब का देहान्त हो गया। उनके देहान्त के समय भी कुरैश के मुखियाओ ने मुहम्मद से अपनी जिद छोड़ देने के लिए आग्रह किया। परन्तु उन्होने यही कहा, 'मैं तो कहता हूँ कि आप सब भी यही कहे कि ईश्वर एक है, हम उसके सिवा और सबकी आराधना छोड देते है।"

अबू तालिब की मृत्यु से मुहम्मद को बहुत ही सदमा पहुँचा। मुहम्मद उन्हे पुत्र से भी अधिक प्यारे थे। कुछ ही दिन

बाद मुहम्मद की जीवन-सगिनी खदीजा का भी देहान्त हो गया। बीबी ख़दोजा ने मुहम्मद का लगभग २५ वर्ष तक हर सकट में साथ दिया था। उनके स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन, विश्वास और सहारे से मुहम्मद को बड़ी शक्ति मिली थी। इन दोनों प्रियजनों की मृत्यु से मुहम्मद को वहुत ही धक्का लगा। फिर भो उन्होंने हिम्मत न हारी।

एक बार मुहम्मद मक्का की गलियों मे जा रहे थे कि एक दुष्ट ने उन पर कीचड फेंका। मुहम्मद ने एक शब्द भी नही कहा। जब घर पहुँचे तो उनकी पुत्री फातिमा ने उनके शरोर से कीचड़ धोया। बीबी फ़ातिमा का शोक-संतप्त-हृदय पिता पर हुए अत्याचार को न सह सका और वह फूट-फूट कर रोने लगी। मुहम्मद ने उसे सांत्वना देते हुए कहा, "बेटी, रो मत, ईश्वर तेरे पिता की रक्षा करेगा।" एक और समय जबकि वे प्रार्थना कर रहे थे, उन पर बलि दिये हुए जानवर की आँते डाली गयी, परन्तु इस पर भी उन्होंने अपनी प्रार्थना मे विघ्न नही पड़ने दिया।

एक समय मुहम्मद साहब काबा में प्रार्थना कर रहे थे कि एक व्यक्ति उनके गले मे एक कपड़ा डालकर उनका गला घोंटने लगा। इतने मे अबू बकर आ गये और उसे रोक कर बोले, "ईश्वर मेरा मालिक है—यह कहने पर ही क्या किसी की जान ले लोगे ?" इस पर वे मुहम्मद को छोड़ अबू बकर पर टूट पड़े और उन्हे बहुत बुरी तरह मारा।

फिर भी मुहम्मद के मन में यह विश्वास दृढ होता चला गया कि लोग उनके सदेश को अवश्य स्वीकार करेंगे। उन्होने कुरैशियो से यह कहना शुरू कर दिया कि जल्दी ही तुम उस धर्म को स्वीकार करोगे जिसकी आज हँसी उडा रहे हो। वे निरंतर यही सोचते रहते थे कि किस प्रकार ईश्वर का सदेश आगे पहुँचाया जाय। एक बार वे अपने दत्तक पुत्र ज़ैद को लेकर तैफ़ गये जो मक्का से ६० मील दूर है। नगर के मुखिया उस समय एक मदिर में थे। मुहम्मद ने उन्हे एक ईश्वर की आराधना का सदेश दिया। इस पर उनमे से एक बोला, "यदि तुम सचमुच अल्लाह के पैग़म्बर होते तो वह क्या तुम्हें पैदल भटकने देता ?" दूसरे ने कहा, "अल्लाह को अपना पैगम्बर बनाने के लिए तुम्हारे सिवाय कोई और न मिला ?" तीसरे ने भी कुछ इसी प्रकार की चुटकियां ली। मुहम्मद वहां से रवाना हुए तो तैफ के वदमाश बच्चे और नौजवान उनके पीछे पड गये। उन पर ईंटे फेंकी गयी। उनका सारा शरीर लोहूलुहान हो गया। मुहम्मद जब मक्का लौटने लगे तब भी भीड़ ने उनका पीछा किया और तीन मील तक उन पर पत्थर बरसाते रहे। उन्होने स्वयं इस घटना का उल्लेख करते हुए एक जगह कहा है कि, "मैं तैफ से तीन मील तक भागा, परन्तु चोटो के मारे मेरे इतना दर्द हो रहा था कि मुझे पता ही नही लग रहा था कि मैं कहां से आया हूँ और कहां जा रहा हूं।" तैफ से तीन मील दूर पहुँचने पर उन्होंने एक वगीचे में विश्राम किया। उन्होंने वही ईश्वर से प्रार्थना

की। परन्तु प्रार्थना में यह नही कहा कि इन दुष्टों को दण्ड दे। परमेश्वर की अभ्यर्थना करते हुए उन्होने यह कहा, "हे रहमा-नुर्रहीम, तू निर्बल का रक्षक है। तू ही मेरा संरक्षक है। तूने मुझे किनके हाथों में सौप दिया ? मुझे तेरी खुशी के सिवाय और किसी की तलाश नही है। साथ ही यदि तेरी सहायता न मिले तो मुझ में कुछ भी भला करने या बुराई को रोकने की शक्ति नही है। तेरी कृपा और तेरी सहायता ही मेरा सर्वस्व है।"

ऐसी विकट परिस्थिति में भी मुहम्मद को पूरा भरोसा था कि क़ुरैश एक दिन उन पर अवश्य विश्वास करेंगे। एक ओर तो उन पर अत्याचार बढते जा रहे थे और दूसरी ओर उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ रही थी। इन्ही दिनो दामाद नामक एक यमन निवासी मक्का आया। उसने सुना था कि मुहम्मद को जिन (भूत) लग गया है। वह बडे गर्व से कुरैश से कहने लगा कि मैं मुहम्मद को रोग-मुक्त कर सकता हूँ। वह मुहम्मद के पास गया और बोला, "मैं तुम्हे एक मन्तर सुनाता हूँ। तुम ध्यान से सुनो"। मुहम्मद ने उत्तर दिया, "पहले तुम्ही मेरा मन्त्र सुनो" और यह कहकर उन्होंने उसे यह आयत सुनाई :—

"हर बात का श्रेय-भागी केवल 'वह ईश्वर' है। हम उसका यश-गान करते हैं और उसकी सहायता मांगते हैं। जिसका मार्ग-दर्शक वह स्वयं है, उसे कोई गुमराह नही क

सकता और जिसे ईश्वर राह भूलने देता है, उसे कोई रास्ता नही दिखा सकता। मैं साक्षी हूँ कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई और देवता नही है। उसका कोई साझेदार नही है। मैं यह भी साक्षीपूर्वक कहता हूँ कि मुहम्मद उसका सेवक और सन्देशवाहक है।"

मुहम्मद आगे सुनाने जा रहे थे पर दामाद इतने से ही ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने इन्ही पक्तियो को तीन बार सुना और फिर बोला, "यही काफी है। मैंने कवियों, जादूगरो, काहिनो (भविष्य-वक्ताओं)--सबको सुना है, परन्तु ऐसी बात कभी नही सुनी। ये शब्द समुद्र के समान गहरे अर्थ वाले हैं। आज से मैं भी मुस्लिम हूँ।"

मक्का मे जब मुहम्मद और उनके साथियो पर अमानुषिक अत्याचार हो रहे थे, उन्ही दिनो मदीना मे, जिसे उस समय यसरब कहते थे, उनके अनुयायियों की सख्या बढ रही थी। मुहम्मद को इस्लाम का प्रचार करते करते यह तेरहवाँ वर्ष था। एक बडा दल यसरब से आकर मुहम्मद से अकाबा में मिला, जो मक्का के पास है। यसरब वाले पहले उनसे मिल चुके थे। इस दल के लोगो ने इस्लाम स्वीकार कर मुहम्मद की पूरी सहायता करने का आश्वासन दिया। कुरैशियों को यह पता लगा तो वे बडे नाराज हुए। अब परिस्थिति यह थी कि मुस्लिम मक्का मे रह नहीं सकते थे। अतएव मुहम्मद ने उन्हे आज्ञा दी कि वे यसरब चले जायँ। धीरे-धीरे दो-दो, तीन-तीन कर वे यसरब चले गये। केवल

मुहम्मद, अबू बकर, अली और कुछ स्त्रियाँ और बच्चे ही मक्का में रह गये।

इस पर मुहम्मद को जान से मार देने का षड्यन्त्र रचा गया। यह तय रहा कि सब कबीलो के बहादुर नौजवान रात को मुहम्मद के घर को घेर लें, और जब वे सवेरे प्रार्थना करने बाहर निकलें, तो उन्हें मार दिया जाय। मुहम्मद को इस षड्यन्त्र का पता लग गया। वे अली को अपने बिस्तरे मे सुलाकर अबू बकर के घर गये और वहाँ से उन्हें साथ लेकर थौर नामक पहाड़ की गुफा में जा छिपे। अबू बकर ने गुफा के सब छेद बन्द कर दिये। सवेरा होने पर मुहम्मद के घर को घेरे हुए नौजवानों ने देखा कि मुहम्मद वहाँ नही हैं। वे अबू बकर के घर गये। वहाँ भी न मुहम्मद थे, न अबू बकर। मक्का के आस-पास सब तरफ़ लोग उन्हे ढूँढ़ने गये। परन्तु उनका पता नहीं लगा। अबू बकर की पुत्री अस्मा उनके पास प्रतिदिन खाना ले जाती थी। उसका भाई अब्दुल्ला उन्हें मक्का की खबरों से सूचित करता रहता था। कुछ कुरैशी गुफा के मुँह तक भी पहुँच गये। परन्तु उन्हे कोई पदचिह्न नही दीखा, अत वे लौट आये। तीन दिन तक मुहम्मद और अबू बकर गुफा में छिपे रहे। अन्त में अबू बकर के तीन ऊँट रसद से लदे हुए वहाँ पहुँचे और वे रातोंरात सफ़र करते हुए लम्बा चक्कर काट कर यसरब पहुँच गये। वहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ। मक्का से मुहम्मद साहब का यह पलायन हिजरत के नाम

से प्रसिद्ध है। उसी समय से इस्लाम का संवत् चला है जिसे हिजरी सन् कहा जाता है। यसरब का नाम बदलकर मदीन-तुन्नबी अर्थात पैग़म्बर का नगर रखा गया पर थोड़े दिनों में उसका सरल रूप मदीना ही अधिक प्रचलित हो गया।

मुहम्मद ने १३ वर्ष तक मक्का में हर प्रकार की कठिनाई और अत्याचार का सामना कर एक नये और क्रान्तिकारी धर्म का प्रचार किया। अब मदीना पहुँचने पर वे केवल एक नये धर्म के पैगम्बर ही न थे बल्कि एक नये राष्ट्र के संस्थापक और एक नये राज्य के शासक भी बन गये थे। उनका मदीना में भव्य स्वागत हुआ और लोगों ने एकमत होकर उन्हें अपना नेता बनाया। उनके सामने कई समस्याएँ थीं जैसे कि मक्का से आये हुए मुसलमानों और मदीना के निवासियों में एकता स्थापित कर इस्लाम के सिद्धान्तों के आधार पर एक नये राष्ट्र की स्थापना करना, कुरैश तथा अन्य इस्लाम-विरोधी शत्रुओं का सामना करने के लिए एक शक्तिशाली सेना का निर्माण करना तथा नये राज्य को चलाने तथा सेना का निर्वाह करने के लिए सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना।

मक्का से आये हुए लोग मुहाजरीन कहलाते थे और मदीना-वासी अंसारी अर्थात् सहायक। उनमें परस्पर स्नेह-पूर्ण व्यवहार और एकता की स्थापना पर मुहम्मद ने बहुत ध्यान दिया। उनका दोनों से बराबर स्नेह और एक सा व्यवहार था। उन्होंने दोनों दलों के बीच विवाह सम्बन्धों

को प्रोत्साहन दिया । उनका यह महान् सिद्धान्त था कि सब मुस्लिम भाई है, चाहे वे कही के रहने वाले हो । उन्होने चुने हुए मुहाजरीन और असारियों के बीच विशेप मित्रता के सम्बन्ध स्थापित कराए। अपने व्यक्तिगत प्रभाव तथा उदाहरण से उन्होने भेदभाव को जड़ पकड़ने नही दिया।

उन्होंने मुसलमानों को अपने धर्म और राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध करने के लिए सगठित किया। मुसलमान सदा इस्लाम की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार रहते थे । उन्हे वतलाया गया कि धर्म की रक्षा के लिए लड़ते हुए मरोगे तो स्वर्ग प्राप्त होगा, जीत गये और जीवित रहे तो इस्लाम को विजयी वनाने का यश प्राप्त करोगे। धीरे-धीरे मुसलमानों की सैनिक शक्ति बढती गयी। उन्हे अक्सर मक्का निवासी कुरैश से तथा कई अन्य कबीलो से लड़ना पड़ता था। मुहम्मद के कई वीर साथी इन युद्धो मे काम आये। अन्त में ८ वर्ष के निरन्तर युद्ध के वाद मुहम्मद को विजयी-सेना ने मक्का में प्रवेश किया। हुबल, लाट, मनात आदि देवताओ की मूर्तियाँ काबे से हटा दो गयी। परन्तु मुहम्मद ने नगर मे रक्तपात तथा लूटमार नही होने दी। अततः मक्का निवासियों ने भो इस्लाम स्वीकार किया।

धीरे-धीरे मुहम्मद ने सारे अरब देश मे इस्लाम की विजय-पताका फहरा दी। उनका स्वप्न यह था कि इस्लाम सारे ससार मे फैल जाय।

इस्लाम के सिद्धान्त इतने सरल थे कि सर्व साधारणके लिए उन्हे समझना कठिन नही था। इस्लाम के मुख्य सिद्धान्त ये हैं:—

(१) "ईश्वर एक है, और मुहम्मद उसका पैगम्बर है।"

यह इस्लाम का बुनियादी सिद्धान्त है। इसे अरबी मे इस प्रकार पढा जाता है—"लाइलाह इलिल्लाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह।" अर्थात् अल्लाह के सिवाय कोई और देवता नही है और मुहम्मद अल्लाह का रसूल अर्थात् पैगम्बर है। यह इस्लाम का सबसे महत्त्वपूर्ण वाक्य है जो कलमा कहलाता है। मुसलमान किसी भी रूप मे ईश्वर की एकता में अविश्वास स्वीकार नही कर सकते।

(२) "मूर्तिपूजा मत करो।"

इस्लाम इस सिद्धान्त पर भी बहुत दृढ है। इसलिए किसी भी रूप मे ईश्वर के काल्पनिक चित्र या मूर्ति आदि को वे स्वीकार नही करते। यहां तक कि मुहम्मद साहब की कोई काल्पनिक मूर्ति या चित्र बनाना मुसलमानो की भावनाओ को बड़ी ठेस पहुँचाता है।'

(३) 'चोरी मत करो।'

(४) 'झूठ मत बोलो।'

(५) 'दूसरो की बुराई मत करो।'

(६) 'किसी प्रकार का नशा मत करो।'

इसी प्रकार मुसलमानो के ये पाँच मुख्य कर्त्तव्य बताये गये है :—

(१) अल्लाह और उसके रसूल मुहम्मद पर विश्वास करना।

(२) दिन में पाँच बार नमाज़ पढ़ना अर्थात् ईश्वर की प्रार्थना करना।

(३) अपनी आय का एक निश्चित भाग गरीबों को दान देना। इसे ज़कात कहते है।

(४) रमजान के महीने में रोज़े रखना अर्थात् उपवास करना।

(५) साल मे एक वार मक्का की यात्रा करना, जिसे हज कहते हैं।

६३ वर्ष की अवस्था में मुहम्मद का देहान्त हो गया। मृत्यु से तीन महीने पहले उन्होंने अपने अनुयायियो को बुलाया और उन्हे अपना अन्तिम सन्देश दिया, जो इस प्रकार है :—

"ईश्वर में विश्वास रखो।

"गरीबों पर दया करो।

"प्रत्येक व्यक्ति को उसका वेतन समय पर दो।

"धर्म का स्थान मनुष्य का हृदय है। जो व्यक्ति उपवास करता है, परन्तु झूठ वोलता है और दूसरों की वुराई करना नही छोड़ता, ईश्वर की निगाह मे उसके खाना-पीना छोड देने का कोई मूल्य नही रहता।

"याद रखो कि सच्चे मज़हव पर ईमान लाने वाले सव भाई-भाई हैं। तुम सव वरावर हो, एक विरादरी के हो।

मुहम्मद की इन शिक्षाओं पर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो उस महान् सफलता का रहस्य आसानी से समझ में आ सकता है, जो कि हजरत मुहम्मद को तथा उनके द्वारा प्रवर्तित इस्लाम धर्म को प्राप्त हुई। उनके संघर्षमय जीवन, अडिग आत्म-विश्वास तथा दृढ़ निश्चय की कहानी निस्सन्देह मनुष्य-मात्र को सदा प्रेरणा देती रहेगी।

: ८ ::

# सन्त कबीर

भारतोय संस्कृति की समन्वय-शक्ति उसकी एक महान् विशेषता रही है। विभिन्न जातियों ने समय-समय पर भारत में प्रवेश किया। प्रारम्भ मे उनका यहाँ के निवासियों से संघर्ष हुआ, परन्तु कुछ ही समय के बाद वे इस देश के जीवन मे घुल-मिल गयीं। जब महमूद ग़ज़नवी, मुहम्मद ग़ोरी आदि पठान आक्रमणकारी भारत मे आये तो उनके और यहाँ के हिन्दू निवासियो के बीच सदियों तक युद्ध होते रहे। जब हिन्दू-मुसलमान साथ रहने लगे तो रहन-सहन, रस्म-रिवाज, विचार तथा धर्म के भेद भी सामने आये। उन्हे हल करना भी आवश्यक था। जिन महापुरुषो ने इन भेदभावो को दूर करने का प्रयत्न कर राष्ट्रीय एकता के निर्माण में योग दिया, उनमें कबीर का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जहाँ तक कबीर के जीवन-चरित्र का सम्बन्ध है, तथ्य की बातें बहुत कम मिलती है। उनके जन्म और मरण के समय के विषय मे भी मतभेद है। ऐसा माना जाता है कि उनका जन्म सवत् १४५५ के लगभग हुआ था, तथा १२० वर्ष को दीर्घायु भोग कर वे दिवंगत हुए थे। कबीर के माता-पिता, जाति आदि के बारे मे भी कोई निश्चित और

प्रामाणिक विवरण प्राप्त नही है। जनश्रुति के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका लालन-पालन एक जुलाहा-दम्पति द्वारा हुआ था। कबीर ने स्वय भी अपनी 'वाणी' में कई स्थानो पर अपने आप को जुलाहा कहा है। जैसे—

"जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि हरषि गुण रमै कबीर।"

इसी प्रकार "तू ब्राह्मण, मैं काशी का जुलाहा" आदि पक्तियो से यह भी ज्ञात होता है कि वे काशी के रहने वाले थे। "काशी मे हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चेताए" नामक उनकी एक पक्ति से उनके काशी-वासी होने के अतिरिक्त यह भी सकेत मिलता है कि वे रामानन्द को अपना गुरु मानते थे।

"गुरु के शब्द मेरा मन लगा, गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै,"
"गुरु बिन इहि जग कौन भरोसा, काके सग ह्वै रहिए"—

आदि उक्तियों से कबीर की अपने गुरु के प्रति भक्ति का परिचय मिलता है।

कबीर के साथ प्राय. लोई का भी नाम लिया जाता है। कुछ लोग कहते है कि वे कबीर की शिष्या थी और आजन्म उनके साथ रही। अन्य लोग उन्हें कबीर की परिणीता स्त्री बताते है तथा यह भी कहते हैं कि उनके गर्भ से कबीर को कमाल नामक एक पुत्र तथा एक पुत्री भी प्राप्त हुई थी। कबीर ने लोई को सम्बोधित करके कई पद कहे हैं।

उनके पुत्र के बारे मे निम्नलिखित दोहा बहुधा सुनने को मिलता है—

"डूबा वंश कबीर का, उपजे पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छांड़ि के, घर ले आया माल।"

यद्यपि इस दोहे के कबीरकृत होने में सन्देह है, किन्तु इससे उनके सन्तानवान् होने के सम्बन्ध में कुछ सकेत अवश्य मिलना है। कमाल के कई पद गुरुग्रन्थ साहब में सकलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्तो के मामले मे कबीर और कमाल मे मतैक्य नही था।

महापुरुषो तथा सन्तो के नामों के साथ प्राय कई आश्चर्यजनक कथाएँ जुड जाती हैं। ये कथाएँ काल्पनिक होती है किन्तु इनसे यह अनुमान अवश्य लगता है कि अमुक सन्त या महात्मा का जनसाधारण पर कितना प्रभाव रहा। कबीर के सम्बन्ध में भी ऐसी अनेक जनकथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि एक बार सिकन्दर लोदी के दरबार मे कबीर पर अपने आपको ईश्वर कहने का अभियोग लगाया गया। काजी ने उन्हे काफिर बताया और उन्हे मृत्युदण्ड की आज्ञा हुई। बेड़ियो से जकडे हुए कबीर नदी मे फेक दिये गये परन्तु जिन कबीर को माया-मोह की शृंखलाएँ भी न बाँध पायी थी, जिनकी पाप की बेड़ियाँ कट चुकी थी, उन्हे ये बेड़ियां भी बाँधे न रख सकी और वे तैरते हुए नदी तट पर आ खड़े हुए। अब काजी ने उन्हे दहकते हुए अग्निकुण्ड मे डलवा दिया किन्तु उनके प्रभाव से आग बुझ गयी और कबीर की देह पर आँच तक न आयी। जब यह प्रयत्न भी निष्फल हो गया तो उन पर एक



सो चादर सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ के मैली कीनी चदरिया ।
दास कबीर जतन करि ओढी, ज्यों की त्यों धरि दीन्हि चदरिया ।।

'कबीर'

मस्त हाथी छोडा गया पर हाथी उनके पास पहुँच कर उन्हे नमस्कार कर चिंघाडता हुआ भाग खडा हुआ।

ऐसी कथाओ से इतना तो निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि अपने स्वतन्त्र विचारो तथा निर्भीक आलोचना-वृत्ति के कारण कबीर को अनेक कठिनाइयो और यातनाओ का सामना करना पड़ा किन्तु फिर भी वे अपने मार्ग से विचलित नही हुए।

कबीर साहब के स्वामी रामानन्द के शिष्य बनने के सम्बन्ध मे भी एक बडी मनोरजक तथा शिक्षाप्रद कथा सुनने को मिलती है। कहते हैं कि प्रारम्भ मे किन्ही कारणो से रामानन्दजी कबीर को अपना शिष्य बनाने के लिए तैयार नही थे। किन्तु कबीर निराश नही हुए। स्वामी रामानन्द पिछली रात को गगा-स्नान के लिए नित्य (काशी के) मणिकर्णिका घाट पर जाया करते थे। एक दिन वे उसी घाट की सीढियो पर जाकर सो रहे। अंधेरे मे स्वामीजी का पैर उनके ऊपर पड़ गया। इस पर स्वामीजी के मुँह से 'राम राम' शब्द निकल पडे। कबीर ने चट उठकर उनके पैर पकड लिये और कहा कि आप राम-नाम का मन्त्र देकर आज मेरे गुरु बन गये है। रामानन्द से कोई उत्तर देते न बना और तभी से कबीर ने अपने आपको रामानन्द का शिष्य प्रसिद्ध कर दिया। यह घटना कबीर के दृढ निश्चय तथा सच्ची लगन का उत्तम उदाहरण है।

मध्ययुग तक आते-आते शूद्र-वर्ग समाज का एक दलित वर्ग बन गया था। मुसलमानों के सम्पर्क से इस वर्ग मे नयी चेतना और स्फूर्ति का संचार आया। शूद्रो ने देखा कि मुसलमानों में द्विज और शूद्र जैसा कोई वर्ग-भेद नही है। वे सब एक हैं। न उनमें कोई छोटा है और न कोई बडा है। अस्तु, समय और परिस्थितियों की प्रेरणा से इन ठुकराये हुए शूद्रो मे से ही कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्य मात्र की एकता का उद्घोष किया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि तत्कालीन समाज की निम्न श्रेणी से उठकर आये थे। उठकर आये ऐसा भी नही, वरन् वे जहाँ थे, वही उठ खडे हुए थे और सामाजिक जीवन मे उन्होने अपना इतना प्रभाव भी स्थापित कर लिया था कि उनका नाम आज भी सारे देश मे आदर के साथ लिया जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस पुनरुत्थान के अभियान मे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही ने सक्रिय योग दिया था।

यह बडे आश्चर्य की बात है कि विशेष पढे-लिखे न होने पर भी कबीर समाज पर इतना प्रभाव डाल सके। उनके इस प्रभाव का रहस्य था उनका दीर्घकालीन सत्सग तथा ईर्ष्या, द्वेष व सकीर्णता की भावना से मुक्त उनका हृदय। वे जो कुछ कहते थे, सीधे अपने अनुभव के आधार पर तथा प्रत्यक्ष जीवन की वास्तविकताओ को ध्यान मे रखकर कहते थे। उनका कथन था —

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी ।"

कबीर के पहले भी कई समाज-सुधारक तथा सन्त महापुरुप हो चुके थे, किन्तु निर्भीक भाव से अप्रिय सत्य कह सुनाने की जो वृत्ति और साहस हमे कबीर मे मिलता है, वह उनकी अपनी ही विशेषता है । कबीर ने अनुभव किया कि हिन्दू-मुस्लिम-विरोध का मूल कारण उनकी सकुचित धर्म-भावना है ·—

"कहै हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहमाना ।
आपस में दोउ लरि लरि मूये, मरम न काहू जाना ।"

कबीर ने अपने पंथ में जाति-पाँति का कोई भेद नही रखा । हिन्दू या मुसलमान कोई भी उसमें सम्मिलित हो सकता था । उनका कहना था कि यदि काली और सफेद गाय के दूध मे कोई अन्तर नही होता तो फिर ईश्वर की सृष्टि मे जातिगत भेद कैसा ? "कोई हिन्दू, कोई तुरक कहावे, एक जमी पर रहिये ।" कबीर के अनुसार सभी एक ही परमेश्वर को सन्तान है—"को ब्राह्मण को शूद्रा ?"

जाति-पाँति के भेद-भाव के साथ ही जुडा था छूत-छात का प्रश्न । कबीर ने "छुआछूत" के विचारो का भी स्पष्ट शब्दों मे खण्डन किया .—

"काहे को कीजै पांडे छोति विचारा । छोतहि तें उपना ससारा ।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध, तुम कैसे ब्राह्मण पांडे, हम कैसे सूद ।"

कहीं कहीं कबीर ने लोकाचार के बाहरी रूपों को ही सब कुछ समझने वालों पर बड़ी गहरी चोट की है। उन्होंने कहा कि बाह्याचार ही सब कुछ नहीं है: मुख्य बात है मन की शुद्धता और सच्ची श्रद्धा।

बात-बात में शास्त्र-चर्चा की दुहाई देने वाले तथा जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव और परिस्थितियों की ओर से आंखे मूंद कर चलने वाले अपरिवर्तनवादियो को भी कबीर ने बुरी तरह लताड़ा। उन्होंने कहा :—

"पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥"

सचमुच ही केवल पोथा-पण्डिताई ही तो सब कुछ नही है। 'पढ़े' किन्तु 'गुने' नही तो वह पढना किस काम का? दीन और दुनिया से जिसे सच्चा लगाव होगा, वह पुस्तकों के वाचन मात्र से कैसे सन्तुष्ट हो सकेगा? वह तो अपने ज्ञान को जीवन और जगत के हित मे प्रत्यक्ष रूप से चरितार्थ करके ही सुख अनुभव कर सकेगा। कुछ इसी आशय की बात कबीर ने अपनी एक अन्य उक्ति मे इस प्रकार प्रकट की है:—

"वेद कितेब कहो मत झूठे, झूठा जो न विचारे"

कबीर ने अपने समय मे धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड और कुरीतियो को दूर कर पारम्परिक विरोध को हटाने का शक्ति भर प्रयत्न किया। जिस सत्य को कबीर धर्म मानते

थे, वह उनके कथनुसार सभी धर्मो में विद्यमान है, किन्तु सबने उसे अंधविश्वास और कुरीतियों से ढक रखा है। कबीर के मतानुसार इस बाहरी आडम्बर को दूर कर देने से धर्म-भेद के समस्त झगड़े-बखेड़े दूर हो जाते है, क्योकि उस स्थिति मे वस्तुत कोई धर्म-भेद ही नही रह जाता। उन्होने इसी भावना के साथ यह कहा था कि महादेव और मुहम्मद मे कोई भेद नही है, राम और रहीम दोनो उस एक ही विराट् सत्ता के प्रतीक है, और क्या हिन्दू क्या मुसलमान सब उस एक ही परवरदिगार के बन्दे है।

"हिन्दू तुरक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, सब विच बसत खुदाई।"

यह ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर विशेष पढ़े-लिखे नही ो। अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर तथा लोक-कल्याण की ावना से प्रेरित होकर जो कुछ उन्हे उचित जँचता था, वही ो निस्सकोच और निर्भीक भाव से कह देते थे। इसमे कोई न्देह नही कि उनका अनुभव अति विशाल था, तथा उनमे च्ची लोक-हित भावना थी। वे एक पहुँचे हुए साधु थे। व्याव-ारिक लोक-जीवन के सम्बन्ध मे प्रकट किये गये विचारो के प्रतिरिक्त उनकी वाणी मे कही-कही बहुत सुन्दर आध्यात्मिक केत भी मिलते हैं। "माया का दूसरा नाम अज्ञान है। र्पण पर जिस प्रकार काई लग जाती है, उसी प्रकार आत्मा र अज्ञान का आवरण पड़ जाता है, जिससे आत्मा मे पर-

मात्मा के दर्शन अर्थात् आत्मा का तात्त्विक ज्ञान दुर्लभ हो जाता है। अतएव आत्मारूपी दर्पण को सदैव निर्मल रखना चाहिये।" कबीर के ही शब्दो मे—

"जो दर्शन देख्या चहिये, तो दरपन मजत रहिये।
जब दरपन लागे काई, तब दरसन किया न जाई॥"

सासारिक जोवन की नश्वरता का कितना प्रभावशाली आभास नीचे लिखे दोहे में है —

"मालिन आवति देखि करि, कलियन करी पुकार।
फूले-फूले चुनि लए, कालिह हमारी बार॥"

नाश नीची स्थिति वालों के लिए ही मुँह बाये नही खड़ा है, ऊंची स्थिति वाले भी उसी घाट उतरेंगे, इस वात का वड़ा मार्मिक सकेत निम्नलिखित दोहे मे किया गया है :—

"फागुण आवति देखि कर, बन सूना मन माहि।
ऊँची डाली पात हैं, दिन-दिन पीले थाहि॥"

कबीर का समस्त जोवन अन्ध-विश्वासो का प्रतिरोध करते ही वीता था। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे जो जन-कथा मिलती है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने अपनी मृत्यु का भी अपने उस महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरी तरह उपयोग किया। कवीर काशी में जन्मे थे। वही अधिकतर वे रहे भी। किन्तु मृत्यु के समय वे "मगहर" चले गये। काशी मोक्षदापुरी कही जाती थी, जब कि मगहर के

सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध था कि वहाँ मरने से मनुष्य की मुक्ति नही होती। यह अन्ध-विश्वास अभी तक चला आ रहा है। कहते हैं कि इस अन्ध-विश्वास का विरोध करने के लिए ही वे मृत्यु के समय मगहर चले गये थे। उन्होने कहा भी है कि:—

"जो काशी तन तजै कबीरा, रामहि कौन निहोरा रे।"

कबीर की अन्त्येष्टि-क्रिया के सम्बन्ध मे भी एक बहुत ही विलक्षण प्रवाद प्रचलित है। कहते है कि उनके हिन्दू शिष्य उनके शव का अग्नि-सस्कार करना चाहते थे और मुसलमान शिष्य उसे दफ़नाना चाहते थे। समझौते की कोई राह नही सूझ रही थी कि इतने मे आकाशवाणी हुई, "झगड़ो मत। कफ़न उठाकर देखो।" लोगो ने कफ़न उठाकर देखा तो शव के स्थान पर पुष्प-राशि पायी गयी, जिसे दानो वर्ग के शिष्यो ने परस्पर आधा-आधा बाँट लिया। अपने हिस्से के फूलो को हिन्दू शिष्यो ने जलाया और उसकी राख को काशी में ले जाकर समाधिस्थ कर दिया। मुसलमानो ने अपने हिस्से के फूलो पर मगहर ही मे कब्र बना दी। यद्यपि यह कहानी अविश्वसनीय है, किन्तु उसके मूल मे जो भाव है, वह निस्सन्देह अमूल्य है। विविध विचार-धाराओ तथा मत-मतान्तरो को एक दूसरे के निकट लाने तथा उनमे समन्वय करने का जो भगीरथ प्रयत्न कबीर जीवन भर करते रहे थे, वह कितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक था, उसका बड़ा मार्मिक

सकेत इस घटना से मिलता है। कबीर ने जिस आदर्श उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जीवन भर साधना की, उसमे सम्पूर्ण रूप से चाहे वे सफल नही हुए हो, किन्तु इसमे सदेह नही कि उन्होंने जो दिशा दिखायी, वह परम कल्याणकारी थी।

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

"कबीर"

गृहस्थ थे, ओहदे से पटवारी थे तथा रायबुलार की ज़मीदारी के अन्तर्गत अपने गाँव तलवण्डी मे रहते थे।

बालक नानक पर माता और पिता दोनों ही का अपार स्नेह था। ज्योतिषियों की इस प्रकार की भविष्यवाणियो से कि उनका यह बालक आगे चलकर बडा नाम कमायेगा, वे बडी आशा और उमंग के साथ उसके लालन-पालन में लगे थे। जब नानक ९ वर्ष के हुए तो उनके पिता ने उन्हे गोपाल पण्डित की पाठशाला मे ले जाकर हिन्दी सीखने के लिए बिठा दिया। इस घटना को लेकर आदि गुरु-ग्रन्थ में एक पद इस प्रकार है :—

"जालि मोहि घसि मसु करि मति कागदु करि सारु।
करि चितु लिखारी गुरु पुछि लिखु विचारु॥
लिखि नाम सालाह लिखि, लिखि अन्तुन पारावार।
बाबा इहु लेखा लिखि जाणु,
जित्थे लेखा मांगियै तिथै होइ सचा निसाणु।"

अर्थात् 'हे चित्त रूपी लेखक मोह को जलाकर त्याग रूपी स्याही बना और बुद्धि रूपी कागज पर सच्चे प्रेम रूपी कलम से सत्यासत्य का विचार लिख, तथा लिख उस परमात्मा का नाम, जिसका आज तक कोई पार ही नही पा सका। बाबा अगर ऐसा लिखना जान गया तो जहाँ भी लेखा माँगा जायगा, वहाँ सच्चा ही निशान होगा।" लिखने पढने की बात को

लेकर इस छन्द में गुरु नानक के सच्चे ज्ञान की ओर संकेत किया है।

तीन वर्ष बाद जब नानक की हिन्दी की व्यावहारिक शिक्षा हो चुकी तो पिता ने उन्हे पं० ब्रजनाथ शर्मा के पास संस्कृत सीखने को बैठाया। शर्माजी पर भी नानक की मनन-शील प्रकृति की बडी छाप पड़ी। कई बार कई गम्भीर प्रक-रणो की वे ऐसी अच्छी व्याख्या करने लगते कि उनकी आयु देखते हुए सबको बड़ा आश्चर्य होता।

दो वर्ष और व्यतीत होने पर नानकदेव को मौलाना कुतुबुद्दीन के पास फ़ारसी पढने के लिए भेजा गया। कहा जाता है कि यहाँ भी उन्होने अपनी योग्यता और चातुरी से मौलवी साहब को आश्चर्यचकित कर दिया। अलिफ, बे, पे आदि साधारण वर्णो के भी वे परमात्मा सम्बन्धी ऐसे सुन्दर अर्थ निकालते और बताते कि मौलाना साहब आनन्द-विभोर हो जाते।

नानक के विद्याध्ययन का यह क्रम चल ही रहा था कि ग्यारह वर्ष की आयु होने पर उनके पिता ने उनके यज्ञोपवीत-सस्कार का निश्चय किया। परम्परागत विधि के अनुसार सभी तैयारियाँ पूरी हुईं और बालक के गले मे यज्ञ-सूत्र डाला जाने लगा। नानक बचपन से हर छोटी-बड़ी बात को लेकर घण्टो विचार-मग्न रहते थे। भला इस प्रसंग पर वे कब शान्त

रह सकते थे ? कहते है कि उस छोटी आयु मे ही उन्होने अपने कुल-पुरोहित से इस अवसर पर बडी गंभीरता से यह निवेदन किया "मुझे ऐसा जनेऊ पहनाओ जो न तो कभी टूटे और न कभी बदला जाये, तथा जो ईश्वरीय हो। जिसमें दया का कपास हो तथा सन्तोष के सूत से जिसकी जत बनाई गई हो। ऐसे जनेऊ को पहनकर ही कोई धन्य हो सकता है।"

जैसा कि पहले कहा चुका है, बहुत छोटी आयु से ही नानकदेव को हर छोटी-बड़ी बात को लेकर घण्टों विचार करते रहने की आदत पड़ गयी थी। वे घण्टों एकान्त में बैठे अपने विचारों मे डूबे रहते। उस समय न तो उन्हे खाने की सुधि रहती, न पीने की; न उठने का ध्यान आता, न सोने का। एक बार इसी प्रकार बिना कुछ खाये-पिये वे घण्टों किसी गम्भीर चिन्तन में डूबे रहे। लोगों ने समझा कि उनका स्वास्थ्य ठीक नही है। पिता ने वैद्य को बुला भेजा। वैद्य आया और नानक की नाड़ी देखने लगा।

नानक को कोई शारीरिक रोग तो था नही। उनकी तो आत्मा किसी अनिर्वचनीय आत्म-सुख की खोज में तड़प रही थी। वैद्य भला उसका क्या तो निदान कर सकता था, और क्या उपचार ?

पुत्र की वैराग्य मे प्रवृत्ति देखकर पिता कुछ चिन्तित हुए और उन्होने पुत्र को किसी कारोबार मे लगा देने की बात

सोची। उन्होंने उन्हें कुछ रुपया दिया और यह कहकर शहर भेजा कि वहाँ से कोई ऐसा सौदा लेकर आना जो खरा हो, और साथ ही लाभकारी भी हो। नानक रुपया लेकर शहर की ओर चल पड़े। संयोग की बात कि मार्ग में उन्हें कुछ साधु मिले जो तीन दिन के भूखे थे। नानक ने बिना कुछ आगा-पीछा देखे अपने पास का सारा रुपया उन पर व्यय कर दिया। रुपया ही नही रहा तो अब शहर जाना व्यर्थ ही था। अतः वे वही से घर की ओर लौट पडे। औरों ने चाहे कुछ भी समझा हो, किन्तु नानक तो अपनी समझ से एकदम खरा सौदा लेकर ही लौटे थे।

इस घटना के बाद पिता ने उन्हे अपनी ज्येष्ठ पुत्री नानकी के पास सुलतानपुर भेज दिया। नानकदेव के बहनोई ने उन्हे वहाँ नवाव दौलत खां के मोदीखाने में रखवा दिया। यहाँ नानक कई दिन रहे, किन्तु साधु-सन्त तथा भूखो-नगो की सेवा का उनका व्रत यहाँ भी उसी प्रकार चलता रहा। इसी बीच उनका विवाह भी हो गया। धर्मपत्नी का शुभ नाम सुलक्खनीजी था, जिनके उदर से नानक के श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नामक दो पुत्र हुए।

यह सब कुछ हुआ किन्तु नानकदेव की पारमार्थिक प्रवृत्ति मे कमी न आयी। उनके दान-पुण्य तथा परोपकारी स्वभाव की चर्चा चारों ओर बराबर फैलती जा रही थी और आस-पास के अनेक लोग उनकी संगति के लिए आते-जाते रहते

थे। इतना ही नहीं उनके भावों और विचारों में अध्यात्म का रंग भी दिन-दिन अधिकाधिक गहरा होता जाता था। एक दिन अचानक वे बिना किसी को कुछ कहे सुने कही चल दिए। चारों ओर भाँति-भांति की चर्चाएं होने लगी। बहिन-बहनोई भी बड़ी चिन्ता मे पड़े, किन्तु तीन दिन तक कही एकान्त में गम्भीर आत्म-चिन्तन मे लीन रहकर वे चौथे दिन स्वयं लौट आये। पर लौटे एक विशेष निश्चय और सन्देश के साथ। सन्देश यह था कि "क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सभी उस एक ही परम पिता परमात्मा की सन्तान है। जो भी भेदभाव खड़े कर दिये गये है वे मनुष्य के अपने स्वार्थों की उपज हैं। वास्तव मे न कोई हिन्दू है, न मुसलमान। सब एक है, अभिन्न है।" निश्चय उनका यह था कि "अब वे घर-गृहस्थी की संकीर्ण परिधि को लाँघकर लोकोपकार की विस्तृत भूमिका मे अपने आपको लगाएंगे।"

इस निश्चय के कुछ ही समय बाद गुरु नानक "यात्रा" पर निकल पड़े। उन दिनों आवागमन के साधन आज की तरह न सुलभ थे, और न सहज। किन्तु जिस महापुरुष का जन्म ही विघ्न-बाधाओं को हटाकर मानव-जाति को नयी तथा सही दिशा की ओर उन्मुख करने के लिये हुआ हो, उसे कोई भी कठिनाइयाँ कब विचलित कर सकती थी? उन्होने एक नही चार-चार बार देश-विदेश की यात्राएं की, और अपने स्पष्ट तथा उदार विचारों का दूर-दूर तक प्रसार किया। देश के लगभग

सभी भागों में वे घूमे, तथा विदेशों मे भी अरब, ईरान, इराक, अफ़ग़ानिस्तान तथा इटली आदि कई देशों में उन्होंने अपनी स्फूर्तिदायिनी वाणी का प्रसाद पहुँचाया।

गुरु नानक की इन यात्राओं से जो 'पहली उदासी' 'दूसरी उदासी' आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं, अनेक चिर-स्मरणीय घटनाओं के सस्मरण जुड़े हुए है। ये सस्मरण हमें बताते हैं कि भारतीय इतिहास की उस नाजुक घड़ी में गुरु नानक ने कैसी योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा सत्यनिष्ठा के साथ मनुष्य मात्र की एकता और समता का सन्देश देश के कोने-कोने मे पहुँचाया।

गुरु नानक की एक बहुत बड़ी विशेषता थी उनका सरल जीवन और जन-सामान्य के प्रति उनका प्रेम। उनकी पहली यात्रा ही की बात है कि वे लाहौर से यमनाबाद आये। ठहरे कहाँ ? लालो नामक एक खाती के यहाँ। उन दिनो वहाँ का दीवान था एक खत्री, मलिक भागो, जिसके अत्याचार से सारा यमनाबाद दु खी था। एक दिन उसके यहाँ कोई भोज था। गुरु नानक के पास भी निमन्त्रण आया, पर वे गये नही। मलिक भागो बहुत बिगड़ा। उसने उन्हे बुला भेजा और पूछा कि जब तुम लालो खाती के यहाँ खाते पीते हो तो फिर तुम मेरे यहाँ भोजन करने क्यों नही आये ? नानक ने शान्ति के साथ उत्तर दिया "रुष्ट होने की कोई बात नही। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच ऊँच-नीच जैसा कोई भेद मैं नही

मानता। मैं तो नेक कमाई के अन्न का भूखा हूँ। लालो की गाढ़े पसीने की कमाई से बनी सूखी रोटी मे मुझे पवित्र दूध की और तुम्हारे पकवान और मिष्टान्न में उस रक्त की धार दिखाई देती है जो दीन-दुखियो को चूसकर तुमने उसमें लगाया है।" मलिक भागो इस सीधी किन्तु खरी बात को सुनकर सन्न रह गया।

सुल्तानपुर की बात है। नमाज़ का समय था। नवाब दौलत खाँ और उनका क़ाजी दोनो नमाज़ पढ रहे थे। नानक भी मौजूद थे। जाने क्या सोच कर वे मुस्करा पडे। नमाज समाप्त होने पर नवाब ने उनसे इसका कारण पूछा। नानक ने सहज भाव से उत्तर दिया—"ईश्वर के दरबार मे आप दोनों में से किसी की भी प्रार्थना स्वीकार नही होने की, क्योंकि वास्तव मे आप दोनो में से किसी का भो चित्त इस समय नमाज़ मे नही था। काजी जी सोच रहे थे कि 'कही मेरा नवजात बछेरा आँगन वाले कुए मे न जा गिरे।' 'आप यह सोच रहे थे कि काबुल मे अच्छे घोड़ों का सौदा कैसे पटाया जाय।' यह बात सुनकर नवाब और क़ाजी दोनों के मस्तक लज्जा से नत हो गये क्योंकि जो कुछ गुरु नानक ने कहा था, वह सत्य था। नवाब ने तब गुरु नानक से धर्म के सच्चे स्वरूप के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करने के लिए अनुरोध किया। इस पर गुरु नानक ने जो कुछ कहा, उसका सार यह था "हे नवाब बहादुर, दया और सत्य को अपनी

मस्जिद, सच्ची लगन को अपना आसन, न्यायशीलता को अपनी कुरान, भलमनसाहत को अपना रोजा, सच्चरित्रता को अपना काबा, सत्याचरण को अपना पैगम्बर तथा सत्कार्य व सच्चिन्तन को उसका सच्चा पैग़ाम समझिये। जैसे गोमास हिन्दू के लिए तथा सुअर मुसलमान के लिये अग्राह्य है, उसी प्रकार अपनी आंखो के लिए किसी भी दूसरे की वस्तु को सर्वथा अग्राह्य मानिये।"

गुरु नानक के धार्मिक विचार किन्ही रूढियों पर आश्रित न थे। वे सच्ची मानवता के पुजारी थे तथा हिन्दू-मुसलमान सभी को वे बिना किसी पूर्वाग्रह के सदुपदेश दिया करते थे। उनकी सुप्रसिद्ध उदासियो (धर्म-प्रचार-यात्राओ) में जो दो व्यक्ति अधिकतर उनके साथ रहे, उनमे एक भाई मर्दाना मीरासी मुसलमान थे तथा दूसरे भाई बाला जाट हिन्दू थे। दोनों ही उनके परम स्नेह-पात्र तथा अनन्य भक्त थे।

अपनी पहली उदासी के दौरान गुरु नानक गया भी गये थे। वहां पण्डों को दीपदान और पिण्डदान के सम्बन्ध मे अपना दृष्टिकोण बताते हुए उन्होने जो विचार प्रकट किये, वे उनकी स्वतन्त्र दृष्टि के सुन्दर परिचायक हैं। उन्होने कहा :—

"मेरा दीप तो ईश्वर का नाम है जिसमे लोगो के दुःखों का तेल डाला हुआ है। इस दीप ने मेरे मृत्यु-भय रूपी अन्धकार को दूर भगा दिया है। मरे हुए को पिण्ड या पत्तल

क्या देना ? वास्तविक कर्मकाण्ड तो ईश्वर का सत्य नाम है, जो सर्वत्र मेरा उद्धारक है।" पण्डों को श्राद्ध-कर्म के सम्बन्ध में यह नयी व्याख्या सुनकर आश्चर्य तो हुआ होगा, किन्तु श्राद्ध के सम्बन्ध में एक सुलझे विचारों वाला सन्त और कह ही क्या सकता था ?

गुरु नानक निरर्थक आलोचना कभी नहीं करते थे। वे न किसी धर्म के विरोधी थे, न निन्दक। प्रचलित रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों पर उन्होंने अवश्य चोट की, किन्तु वह भी बड़े मीठे ढंग से।

उनकी जगन्नाथपुरी की यात्रा के प्रसंग की बात है। उधर मन्दिर मे आरती हो रही थी, इधर गुरु नानक ने आरती के सम्बन्ध में अपनी भावना और कल्पना को निम्न शब्दों में संजोकर मरदाना की ओर संकेत किया, जिसने बड़े ही भावपूर्ण स्वरों में उसे रबाब पर गाकर सुनाया :—

गगन है थाल रवि चन्द्र दीपक बने, तारका मण्डल जनक मोती।
धूप मलिआनलो पवन ,चंवरो करे, सगल बनराय फूलन्त जोती ॥
कैसी आरती होय भव खण्डना तेरी, आरती अनहदा शब्द बाजंत भेरी।
सब महि जोति-जोति है सोई, तिसदे चानन सब मह चानन होई ॥

अर्थात् सर्वव्यापक विश्वरूप परमात्मा की आरती के लिए अनन्त दूर तक फैला हुआ आकाश मानों थाल है, सूर्य-चन्द्र दीपक हैं, सुन्दर तारागण मोती हैं, मलयगिरि चन्दन व

धूप का काम दे रहा है, पवन देवता चँवर कर रहा है, समस्त वानस्पतिक जगत उस थाल के फूल है, तथा अनहद शब्द का घोर रव मानों भेरी वादन का काम दे रहा है। कैसी विशाल कल्पना है ! समस्त विश्व की एकता तथा विराटता का कितना मार्मिक चित्रण है।

अपनी चौथी उदासी के दौरान देश-देशान्तर की यात्रा करते हुए गुरु नानक मक्का शरीफ़ भी गये थे। भाई मर्दाना भी साथ था। कई दिनो की लम्बी यात्रा की थकान से वे चूर थे, इसलिए उस रात को जो सोये तो प्रात. जल्दी नही जग सके। सवेरे किसी की उन पर दृष्टि पड़ी तो उसने देखा कि वे उस ओर पैर किये सो रहे है जिस ओर कि "काबा" है। उसने तुरन्त उन्हे जगाया और कहा कि "तुम यह कैसा अशिष्ट आचरण कर रहे हो ?" नानकदेव न सहज भाव से उत्तर दिया, "भाई, मुझे कोई आपत्ति नही। तुम मेरे पैर उसी ओर कर दो, जिस ओर काबा (खुदा का घर) न हो।" बात बडी सरलता से कही गयी थी, किन्तु थी बड़ी मार्मिक। बड़े धर्माचार्यो तक भी यह बात पहुँची। गुरु नानक से पूछा गया, "आप कौन हैं ?" उत्तर मिला—"मनुष्य"। "मनुष्म तो है पर मनुष्यो मे भी हिन्दू, मुसलमान आदि में से आप कौन है ?" उसी सहज भाव से फिर उत्तर मिला—"पंच तत्त्व का यह पुतला न हिन्दू है, न मुसलमान। ईश्वर के घर मे सब समान है। ये भेद तो मनुष्य ने स्वयं ही अपने लिये गढ

में कई जन-श्रुतियां मिलती हैं। कहते है कि एक बार कोई भक्त साधु मीराँ के घर आकर ठहरा। उसके पास कृष्ण की एक सुन्दर मूर्ति थी। जब वह साधु उसकी पूजा करता और भजन गाता तो भक्ति-भाव से विह्वल हो उठता। मीराँ ने यह सब दृश्य अपनी आँखों से देखा। उन्होंने हठ ठानी कि वह मूर्ति उन्हें दिला दी जाय। किन्तु साधु को वह मूर्ति बहुत प्रिय थी, अतः तत्काल वह उसे देने को तैयार नही हुआ। वह चला गया और मीराँ रोती रह गयीं। रात को सोते समय उस साधु ने स्वप्न देखा कि स्वयं श्रीकृष्ण उसे यह आज्ञा दे रहे हैं कि "तुम अपने पास की मूर्ति उस मीराँ नाम की बालिका को दे आओ।" साधु उठा तो सीधा मीराँ के पास पहुँचा और वह मूर्ति उन्हें दे आया। मीराँ की प्रसन्नता का पारावार न था। वह बड़ी भक्ति के साथ उस मूर्ति की पूजा करने लगी। स्नानादि से निवृत्त होकर वह उसकी पूजा करने बैठ जाती। अपने माता-पिता से कुछ भजन भी उन्होंने सीख लिये थे। तन्मय भाव से वह उन्हें गाती, और कृष्ण-प्रेम में मस्त हो जातीं।

इनकी भक्ति-भावना को लेकर एक जनश्रुति और प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मीराँ जब कुछ बड़ी हुई तो एक दिन उन्होंने किसी दूल्हे को बारात के साथ जाते देखा। आसपास खड़ी स्त्रियों मे दूल्हे के सम्बन्ध में चर्चा चल रही थी। मीराँ ने बाल-सुलभ जिज्ञासा से अपनी माँ से पूछा—"माँ,

मेरा दूल्हा कौन है ?" माँ ने भी सहज भाव से उत्तर दे दिया, "बेटी, गिरिधर गोपाल तेरे दूल्हा हैं।" माँ के मुंह से निकली इस सहजोक्ति को मीराँ ने गांठ बाँध लिया। कृष्ण-भक्ति के प्रति उसका झुकाव तो पहले ही से था। इस घटना ने उसे और भी अधिक गम्भीर बना दिया। दिन रात मीराँ कृष्ण की भक्ति मे ही डूबी रहने लगी। जागती तो कृष्ण का ध्यान, सोती तो कृष्ण का ध्यान। स्वप्न में भी कृष्ण को छोड़ और किसी का ध्यान न कर पाती थी। उनका एक पद है—

"माई म्हांने सुपने में परण गया गोपाल।
माई म्हांने सुपने में परण गया दीनानाथ॥
छप्पन कोटि लोग पधार्‍या दूल्हा म्हारा श्री भगवान।
सुपने में तोरण बांध्यो जी सुपने में आई जान॥
मीराँ को गिरधर मिले जो पूरब जनम को भाग।
सुपने में म्हांने परण गयाजी, हो गया अचल सुहाग॥"

कृष्ण के प्रति मीराँ की गहरी भक्ति की हमे इस पद मे एक सहज और सौम्य झलक मिलती है।

दुर्भाग्यवश मीराँ को अल्पायु में ही मातृसुख से वंचित होना पड़ा। उनके कोमल हृदय को इससे बड़ी ठेस लगी। उनके दादा राव दूदाजी ने उन्हे मेड़ता बुला लिया। वही उनके बचपन का शेष समय व्यतीत हुआ। राव दूदाजी धार्मिक विचारों के श्रद्धालु व्यक्ति थे। अस्तु, मेड़ते मे रहते हुए भी मीराँ को कृष्ण-भक्ति तथा कृष्ण-चर्चा पूर्ववत्

चलती रही। किन्तु मीराँ के दुर्भाग्य से राव दूदाजी का भ। देहान्त हो गया। मीराँ के कोमल हृदय पर यह दूसरा प्रबल आघात था। इसने उन्हें और भी अधिक संवेदनशील बना दिया और वे अपना अधिकाधिक समय कृष्ण-भक्ति में बिताने लगी। राव दूदाजी के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेवजी मेड़ता के स्वामी हुए। मीराँ अब बड़ी हो गयी थी। वीरमदेव को उनके विवाह की चिन्ता हुई। सौभाग्य से योग्य वर प्राप्त करने में उन्हे कठिनाई नही हुई। मेवाड़ के यशस्वी महाराणा संग्रामसिंह (राणा सांगा) के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ मीराँ का सम्बन्ध निश्चित हो गया, और शीघ्र ही शुभ मुहूर्त में इन दोनों का विवाह भी हो गया।

मीराँ के जीवन में यह नया मोड था। वे पितृगृह से पतिगृह में आ गयी। किन्तु उनकी धार्मिक प्रवृत्ति मे कोई परिवर्तन नही हुआ। दुर्भाग्य से विवाह के कुछ ही वर्ष बाद उनके पति भोजराज का देहान्त हो गया। वैधव्य की अग्निशिखा में जल-तप कर मीराँ की आध्यात्मिक चेतना और भी प्रदीप्त हो उठी। सांसारिक भोगविलास के प्रति उन्हें पहले भी अनुराग न था। अब तो उसके प्रति उनकी विरक्ति चरम सीमा तक जा पहुँची। दिन-दिन और रात-रात भर वे कृष्ण के ध्यान में निमग्न रहने लगी। साधु-संतो का सत्संग उनकी दिनचर्या का अभिन्न अंग बन गया।

मीराँ के पति भोजराज की मृत्यु के लगभग १० वर्ष बाद



मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जां के सिर मोर मुकट मेरो पति सोई॥

"मीरां"

उनके श्वसुर राणा सांगा भी कनवाहा के युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गये। उनकी मृत्यु के बाद रत्नसिंह सिंहासनारूढ़ हुए किन्तु वे भी बूंदी के हाड़ा सूरजमल से युद्ध करते हुए मारे गये। रत्नसिंह के पश्चात् उनके अनुज विक्रमादित्य ने मेवाड़ का शासन-सूत्र ग्रहण किया। पति और श्वसुर के जीवन-काल में मीरां को अपनी साधना के मार्ग में किसी विघ्न-बाधा का सामना नही करना पड़ा था। राणा रत्नसिंह के समय में भी कोई विशेष कठिनाई नही उपस्थित हुई। किन्तु राणा विक्रमादित्य को यह बिल्कुल नही जँचा कि राजकुल की एक वरिष्ठा नारी इस प्रकार साधु-सन्तो के बीच उठे बैठे या मन्दिरों मे जाकर भजन-भाव और कीर्तन आदि मे सम्मिलित हो। उन्होने मीरां की इन प्रवृत्तियो पर अंकुश लगाने की चेष्टा की। किन्तु मीरां इन लौकिक बन्धनों से अब बहुत आगे बढ गयी थी। राजकीय आतंक अथवा परिवार का भय भी अब उन्हे अपने सात्त्विक जीवन से हटाने मे असमर्थ था। मीरां की इस समय की मानसिक परिस्थिति के द्योतक उनके कई मार्मिक पद मिलते हैं। कभी मीरां भाव-विह्वल होकर गा उठती :—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकट मेरो पति सोई॥
अंसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई, आनन्द फल होई॥

बाधाओ के होते हुए भी मीरां भक्ति-पथ से विचलित

नही हुई । सन्त-समागम का क्रम भी यथावत् चलता रहा। अपने समय के जिन प्रसिद्ध सन्नों के संसर्ग में मीराँबाई विशेष रूप से आयीं, उनमें भक्त रैंदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रैंदास कोई उच्चकुलीन व्यक्ति न थे। वे जाति के चमार थे, किन्तु उनकी साधना इतनी उत्कृष्ट थी कि अपने समय के सर्वश्रेष्ठ साधको और सन्तों में उनकी गणना की जाती थी। यह मीराँ की गुण ग्राहकता और उदारता ही थी कि एक उच्च राजघराने से सम्बन्धित होते हुए भी उन्होने जाति पाँति, ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन आदि बातो का सतो के प्रसंग मे कोई विचार नही किया। सत रैंदास को वे अपना गुरु मानती थी। उन्होने अपने पदों मे भी एक स्थान पर कहा है :—

"मेरो मन लाग्यो हरिजूसो अब न रहूँगी अटकी।
गुरु मिलिया रैंदासजी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी॥"

राणा विक्रमादित्य को मीराँ का यह सब व्यवहार बिलकुल पसन्द नही था। उन्होने कुछ विश्वासपात्र सखियो द्वारा मीराँ को इस भक्ति-मार्ग से हटाने का प्रयत्न किया, किन्तु सफलता नही मिली। उल्टे, वे सखियाँ ही मीराँ के रग मे जा रँगी। और भी कई तरह से उन्होने मीराँ पर दबाव डालने की चेष्टा की। स्वयं मीराँ की सास ने भी उन्हे समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु मीराँ का एक ही उत्तर था, 'यदि मैं कोई ऐसा काम करूँ जो पवित्र लोक-जीवन के विपरीत

हो तो मैं दण्ड-भागिनी हूँ। किन्तु जहाँ तक भक्ति-भाव और साधु-सग का प्रश्न है, इनमे से कोई भी बात ऐसी नही है कि जिसके लिये मुझे पश्चाताप करने की आवश्यकता हो। यह मार्ग छोड़ना मेरे लिये सम्भव नही है।" मीराँ की यह मानसिक दृढता और निष्ठा उनके कई पदों में व्यक्त हुई है। एक पद इस प्रकार है —

'साधू माता-पिता, कुल मेरे सजन सनेही ज्ञानी।
सन्त-चरण की-सारन रैनदिन सदा रहत हूँ वानी॥
रानी को समझाओ जाओ, मैं तो बात न मानी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर सन्तो हाथ बिकानी॥"

समझाने बुझाने का अब कोई प्रभाव नही पडा तो कहते है कि राणा की ओर से मीराँ को जहर दिये जाने का भी प्रयत्न किया गया। एक बार उन्हे विषधर सर्प द्वारा डसाये जाने की भी चेष्टा की गयी। किन्तु मीराँ इन सभी दुष्प्रयत्नो से बच गयी। मीराँ की जीवन-लीला समाप्त कर डालने की दृष्टि से की गयी कुचेष्टाओ का एक सकेत हमें निम्नलिखित पद में मिलता है—

"जहर का प्याला भेजिया रे दीजो रे मीराँ हाथ।
अमृत करके पी गई रे भला करे दीनानाथ॥
मीराँ प्याला पीलिया रे बोली दोउ कर जोर।
मैं तो 'मारण री करो रे मेरो राखण हारो श्रोर।"

मीराँ की मृत्यु चाहे इन सव प्रयत्नों के बाद भी न हो सकी हो, किन्तु इसमे सन्देह नही कि परिवार वालो तथा

स्वजनों के विरोध के कारण उनका जीवन अत्यन्त संकटापन्न होता चला गया और अन्तत. उन्हें मेवाड़ छोड़कर चले जाने का निश्चय करना पड़ा। वे मेड़ता चली गयीं। उनके चाचा ने वहाँ उन्हे वडे आदर और स्नेह से रखा, किन्तु वह सुरक्षा और शान्ति भी अस्थायी सिद्ध हुई। जोधपुर के राजा मालदेव ने वीरमदेव पर आक्रमण कर उनसे मेड़ता छीन लिया। अव मीराँ का अपने चाचा के यहाँ भी आश्रय नही रहा। खिन्न मन वे वहाँ से भी चल दी, और कृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन जा पहुँची। कुछ समय वे वही रहीं, किन्तु कई रूढ़िवादी व्यक्तियो के दुर्व्यवहार के कारण वहाँ भी उन्हे अनेक प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ा, जिससे त्रस्त होकर वे वृन्दावन को भी छोड़कर द्वारिका चली गयी। यही उनका शेष जीवन व्यतीत हुआ और यही एक दिन अपने आराध्य की भक्ति-भावना में तन्मय हो उसका गुणानुवाद करते-करते वे उसी में लीन हो गयी।

मीराँ की कविता सारे भारत में प्रसिद्ध है। उनकी पदावली को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, वह उसके भावों की गहराई तथा मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण। साथ ही वह इस बात की भी सूचक है कि सच्ची कविता केवल शब्दों की सुघड़ता नही है, वरन् वह हृदय के सहज और सरस भाव-पुष्पों की सुगन्ध में ही अधिक मिलती है।

मीराँ को अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति कितना

अधिक अनुराग और विश्वास था, इसका एक सुन्दर उदाहरण देखिये। मेड़ते से चलकर जब मीरांबाई वृन्दावन पहुँची तो उन्होंने वहां के श्री जीव गुसाइँ से भेट करनी चाही। किन्तु गुसाइँ जी ने कहला दिया कि "मैं स्त्री जाति का मुख-दर्शन नही करता।" मीरां ने उत्तर मे कहलाया कि "गुसाइँ-जी भ्रम मे हैं। वृन्दावन में तो श्रीकृष्ण ही अकेले पुरुष हैं, शेष तो सब गोपियां है।" बात बडी मार्मिक थी। सभी भक्त कवियों ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की भक्ति अधिकतर दाम्पत्य भाव से ही की है। अपने आपको गोपी मानकर अपने परम प्रिय श्रीकृष्ण के प्रति सहज अनुराग के भाव उन्होंने प्रकट किये हैं। जीव गुसाइँ इस उत्तर से इतने अधिक प्रभावित हुए कि तुरन्त नंगे पांव मीरांबाई के दर्शन को दौड आये।

कहते है कि मीरां के मेवाड छोड़ जाने के वाद विक्रमादित्य को अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने मीरां को वापस लिवा लाने के लिए आदमी भेजे। द्वारिका में जाकर ही इन व्यक्तियों की मीरां से भेट हो पायी। बहुत अनुनय-विनय के उपरान्त भी कहते है कि मीरांबाई पुन. लौट चलने को राज़ी नही हुई, वरन् इस नित्य-प्रति की बुलावा-चलाई से मुक्ति पाने के लिए वे कुछ सोचकर तथा संकल्प कर मन्दिर में चली गयी और फिर वहाँ से नही लौटी। जब लोगों ने भीतर जाकर देखा तो वहाँ

उन्हे मीरां का निष्प्राण शरीर ही पड़ा मिला।

भक्तिमती मीरांबाई ने अपनी अनवरत भक्ति-साधना द्वारा न केवल राजस्थान वरन् समस्त भारतवर्ष में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। जब तक काव्य मे सहज निश्छल तथा अकृत्रिम भावाभिव्यक्ति का महत्व स्वीकार किया जाता रहेगा तब तक उनकी सरस पदावली का सर्वत्र सम्मानपूर्ण स्थान बना रहेगा।

हरि मेरे जीवन प्राण अधार।
और आसरो नाही तुम बिन तीनूं लोक मझार॥
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यो सब संसार।
मीरां कहै मैं दासी रावरी, दीज्यो मती बिसार॥

: ११ :

# ऋषि दयानन्द

आज से लगभग सवा सौ वर्ष पहले की बात है, जब यह देश पराधीनता की बेड़ियों मे जकड़ा हुआ था। उस समय हमारे देश की सामाजिक स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। अनेक झूठे-सच्चे मत-मतान्तरों से देश का लोक-जीवन ध्वस्त हो रहा था। छतछात, जात-पांत तथा अनेक मिथ्या अन्ध-विश्वास देश के सामाजिक जीवन को भीतर ही भीतर खोखला किये दे रहे थे। उपयुक्त समय था कि कोई दृढ और सामर्थ्यवान व्यक्तित्व देश को इस स्थिति से उबारने का भगीरथ प्रयत्न करे। आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द देश की इस सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही जैसे इस पृथ्वी पर आये। उनका जन्म विक्रम सं० १८८१ मे सौराष्ट्र प्रदेश के टंकारा नामक ग्राम मे हुआ था। उनका पहला नाम मूलशंकर था। मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण सौराष्ट्र की प्रथा के अनुसार उनका यह नाम रखा गया था, परन्तु घर मे उनका प्रचलित नाम दयाराम था। सन्यास लेते समय उन्होने अपना नाम बदलकर दयानन्द कर लिया।

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न बालक की जिस प्रकार की शिक्षा

दीक्षा उन दिनों हुआ करती थी, वह मूलशंकर की भी हुई। संस्कृत, व्याकरण, रुद्राध्यायी तथा यजुर्वेद-संहिता का अध्ययन उन्होंने कोई तेरह वर्ष की आयु तक समाप्त कर लिया।

उनके पिता कर्सनलालजी त्रिवेदी मोर्वी राज्य की ओर से गांव के जमादार (तहसीलदार) थे। वे सामवेदी ब्राह्मण थे, किन्तु शिवोपासक होने के कारण यजुर्वेद को बहुत मानते थे। पिता ने पुत्र को भी धार्मिक ज्ञान दिया और शिव-भक्ति की ओर अग्रसर किया।

उनकी आयु का १३वां वर्ष समाप्ति पर था, जब संवत् १८९४ विक्रमी में मूलशंकर के जीवन में वह घटना घटित हुई जिसने उनके जीवन का प्रवाह बदल दिया। शिव-रात्रि का दिन था। पिता ने अपने साथ इन्हे भी शिवरात्रि का व्रत रखने के लिये कहा। माता की इच्छा न थी, पर पिता के आग्रह से मूलशंकर ने भी उपवास किया।

दिन तो बीत गया किन्तु जब रात्रि हुई और शिव-भक्त जन जागरण के लिये मन्दिर में एकत्र हुए तो मूलशंकर को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अपने को परम शिवभक्त मानने वाले कई लोग जिनमें उनके पिता भी सम्मिलित थे, नींद को नही रोक सके, और खर्राटे भरने लगे। बालक मूलशंकर मे बाल्यकाल से ही एक बड़ा गुण था और वह था—विचार और विश्वास की दृढ़ता। परिणामतः जिस

दृढता से वह दिन भर भूखा रहा था, उसी दृढता से रात भर जागने के लिये भी बैठा रहा।

भक्त लोगो के सो जाने पर जब निस्तब्धता छा गयी तो मन्दिर के एक कोने से एक चूहा निकला और शिवमूर्ति पर चढ़े हुए पदार्थों को कुतर-कुतर कर खाने लगा। मूल-शंकर को बडा आश्चर्य हुआ। उसने पिता को जगाया, और उनसे पूछा कि अपार शक्ति वाले भगवान शिव के मस्तक पर एक साधारण सा चूहा चढ गया, यह कैसे संभव हो सका। पिता ने इस प्रश्न को मूर्खता मात्र समझा, और डांट-डपट कर मूलशंकर को घर भेज दिया।

घटना साधारण थी किन्तु उस दिन बालक मूलशंकर के मन मे जो जिज्ञासा उत्पन्न हुई, वह उनके भावी तत्वज्ञान का वीज बन गयी। आगे १६ वर्ष की अवस्था में जो दूसरी घटना हुई, उसका वर्णन ऋषि दयानन्द ने अपनी आत्मकथा मे इस प्रकार किया है :—

"मेरी १६ वर्ष की आयु के पीछे मेरी १४ वर्ष की बहिन थी। उसे हैजा हुआ। एक रात्रि में, जिस समय कि नाच हो रहा था नौकर ने खबर दी कि उसे हैजा हुआ है; तब सब जन वहाँ से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये गये और औषध भी की। पर चार घण्टे मे उसका शरीर छूट गया। जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही प्रथम बार मनुष्य को मरते देखा था। उससे मेरे हृदय पर वज्रपात

हुआ। सब लोग रोने लगे। मुझको रोना तो नहीं आया, परन्तु मन में भय उत्पन्न हुआ कि देखो संसार में कुछ भी नही है। इसी प्रकार किसी दिन मैं भी मर जाऊँगा। इसलिए कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे जन्म-मरण रूपी बन्धनों से छूटकर मुक्ति हो। यह विचार मन में रहा। किसी से कुछ कहा नही।"

तीन वर्ष बाद जब मूलशंकर १९ वर्ष के थे, एक और घटना घटी। उसका वर्णन भी स्वामीजी के शब्दो ही मे सुनिये —

"इतने मे उन्नीस वर्ष की अवस्था हो गयी। तब जो मुझसे अति प्रेम रखने वाले, बड़े धर्मात्मा मेरे चाचा थे उनको विशूचिका (हैजा) ने आ घेरा। मरते समय उन्होने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं भी समीप ही बैठा हुआ था। मेरी ओर देखते ही उनकी आँखो से अश्रु बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहाँ तक कि रोते-रोते मेरी आँखे फूल गयी। इतना रोना इससे पूर्व मुझे कभी नही आया था। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचाजी के सदृश एक दिन मरने वाला हूँ। उनकी मृत्यु से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ कि ससार मे कुछ भी नही है। परन्तु यह बात माता-पिता से नही कही। अन्य मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहस्थाश्रम नहीं करना चाहता। उन्होने माता-पिता से कहा। माता

पिता ने विचार किया कि इसका विवाह शीघ्र कर देना ही ठीक है। जब मुझे मालूम हुआ वे बीस वर्ष मे ही विवाह कर देगे तब मित्रों से कहा कि हमारे पिता तथा माता से कहो कि अभी मेरा विवाह न करे। फिर उन्होने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका।"

यह थी घटनाओं की वह शृंखला, जिससे मूलशकर के हृदय में वैराग्य की भावना विकसित हुई। बहुत कुछ कहने सुनने पर भी जब माता-पिता विवाह के लिये तुले रहे तो २२ वर्ष की आयु मे मूलशकर ने अपने जीवन रूपी जहाज का लंगर खोलकर उस अथाह समुद्र में छोड़ दिया। वे घर से उठकर निकल भागे।

घर से निकल कर यह जिज्ञासु युवक लगभग १५ वर्ष तक किसी योग्य गुरु की तलाश मे घूमता रहा। गृह-त्याग की पहली रात्रि उसने अपने नगर से ६ कोस की दूरी पर व्यतीत की। इसके बाद वह प्रतिदिन आगे बढता गया। अपनी इस ज्ञान-यात्रा में वह युवक कहाँ-कहाँ नही घूमा! हिमालय की गुफाओ मे, सघन वनो मे, कभी किन्ही मठो मे तो कभी किन्ही तीर्थस्थानो मे वह भटका। सर्दी, गर्मी, भूख और प्यास सभी प्रकार के कष्ट आये, किन्तु उसके हृदय में ज्ञान की सच्ची लगन लग चुकी थी, उसके सामने ये सब कष्ट उसे नगण्य से लगे। इसी ज्ञान-यात्रा मे वह पहले एक ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर शुद्धचेतन ब्रह्मचारी बना,

और फिर नर्मदा के तट पर एक विद्वान् संन्यासी श्री पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास ग्रहण कर उसने दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया।

संन्यासी होकर भी इस महान जिज्ञासु की सद्गुरु की खोज बराबर चलती रही। अन्त में वह खोज फलवती हुई, और मथुरा मे दण्डी श्री विरजानन्द जी महाराज के रूप मे उन्हे एक योग्य गुरु प्राप्त हो गये। ढाई वर्ष तक उनके चरणों में बैठकर दयानन्द ने प्रकाण्ड विद्वत्ता प्राप्त की। इन वर्षों में उन्होंने गुरु-सेवा, ब्रह्मचर्य और परिश्रम द्वारा अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया। दीक्षा के उपरान्त गुरुजी ने उनसे गुरु-दक्षिणा के रूप में यह माँगा कि—"बेटा, जा, लिखा-पढ़ा सफल कर। देश का सुधार और उपकार कर। सत्य का प्रचार कर। मत-मतान्तर की अविद्या को मिटा।"

अपने गुरु से यह स्फूर्तिदायक सन्देश लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती वैशाख संवत् १९२० मे उनके आश्रम से विदा हुए। अब उन्होंने धर्मोपदेश प्रारम्भ किया। थोड़े ही समय में यह प्रबल ब्रह्मचारी साधु भारत भर में प्रसिद्ध हो गया। इनके व्याख्यानों मे इतनी सच्चाई, ज्ञान की ऐसी गहराई और हृदय की ऐसी सच्ची भावना रहती थी कि जो कोई उनकी बात सुनता वही मुग्ध हो उठता। कई बड़े-बड़े विद्वानों और तर्क-शास्त्रियों से उनके शास्त्रार्थ भी हुए। शास्त्रार्थों मे जीत-हार का निश्चय तो श्रोताओं की रुचि के

अनुसार ही होता है परन्तु इसमें सन्देह नही कि उनके तेजस्वी व्यक्तित्व, अद्‌भुत पाण्डित्य और दृढ विश्वास के कारण प्रत्येक शास्त्रार्थ किसी न किसी रूप मे उनके विचारो और सिद्धान्तों के प्रचार मे सहायक होता गया। काशी के पडितों के साथ उनका जो शास्त्रार्थ हुआ, वह तो एक प्रकार से शकराचार्य और मंडन मिश्र के शास्त्रार्थ की तरह प्रसिद्ध हो गया।

स्वामी दयानन्द की वेदो में बड़ी आस्था थी। वेदों का उन्होने बड़ी गम्भीरता से अध्ययन किया। वैदिक धर्म के नाम पर जो अनेक कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ और मिथ्या-विश्वास जन-साधारण मे घर कर गये थे, उनके निवारण के लिये तथा वैदिक दृष्टिकोण को सही रूप मे जनता के सामने रखने के लिये उन्होने भगीरथ प्रयत्न किया। पण्डे, पुजारियो आदि के द्वारा जहाँ-तहाँ जो पाखण्ड-लीला चला करती थी, उसका उन्होंने दृढता से प्रतिवाद किया। छुआछूत तथा ऊँच-नीच की भावनाओ का भी उन्होंने बडी तीव्रता से विरोध किया। रूढिवाद और 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' की भावना का भी उन्होने खण्डन किया तथा विचार और विवेकपूर्वक तथ्या-तथ्य के निर्णय का उपदेश किया।

उनके उपदेशो का सार यह था कि मनुष्य-मात्र समान है। गुणो और कर्मों से ही उनमे भिन्नता आती है, किन्तु भिन्नता को आधार बनाकर मानव-जाति को जात-पाँत के कठघरे में बाँधना अथवा छुआछूत के विष का बीज बोना

न उचित है और न वांछनीय। परमात्मा की प्रार्थना व उपासना तथा अन्य मानवीय अधिकारों के उपयोग का मनुष्य मात्र को समान अधिकार है। क्या स्त्री और क्या पुरुष सभी को शिक्षा-दीक्षा की समुचित सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इसमें जाति, वर्ण और वर्गगत भेद-भाव जैसे कोई बात बाधक नही बननी चाहिये।

पारिवारिक जीवन में दयानन्द ने बहुविवाह का विरोध किया तथा उसे वैदिक सिद्धान्तो के विपरीत बताया। वे बाल-विवाह के उग्र विरोधी थे। बाल-विवाह के परिणाम-स्वरूप समाज मे बाल-विधवाओ की सख्या मे जो चिन्ताजनक वृद्धि हो रही थी, उधर भी उनका ध्यान गया था। बाल-विवाह को उन्होने व्यक्ति के समुचित आत्म-विकास तथा सम्पूर्ण समाज के मानसिक-स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक बताया तथा उसे बन्द करने का उपदेश दिया। दूसरी ओर समाज में विधवाओ की दयनीय दशा पर भी उनकी दृष्टि गयी। उन्हे परिवार तथा समाज मे सम्मानपूर्ण स्थान दिये जाने का उन्होने दृढता से समर्थन किया। विधवा-विवाह को अनुचित या धर्म-विरुद्ध कहने वालो को भी उन्होने चुनौती दी। सती-दाह की जो अमानुषिक प्रथा भारत के कई भागो और वर्गो में प्रचलित थी, उसका भी उन्होने बडी सशक्त भाषा मे विरोध किया और उसे धर्म के विरुद्ध बताया।

उपासना के क्षेत्र मे ऋषि दयानन्द ने निराकार ईश्वर

की उपासना पर अधिक वल दिया। उन्हे अपने जीवन में जिस प्रकार के अनुभव हुए थे, उनसे मूर्त्ति-पूजा से उनका विश्वास उठ गया था। हिन्दू समाज में जो अन्धविश्वास और निरर्थक कर्मकाण्ड बढ गया था उसका उन्होंने विरोध किया। मरने पर श्राद्ध करने के बजाय जीवित माता-पिता व गुरुजनो की सेवा तथा अकर्मण्य सन्यासी जीवन के स्थान पर संसार का उपकार करने वाले सन्यासी रूप का प्रतिपादन कर उन्होने धार्मिक सुधार के लिए महान् प्रयत्न किया।

शास्त्रार्थ, व्याख्यान, चर्चा आदि के साथ-साथ स्वामीजी ने अपने सिद्धान्तो के प्रसार के लिए साहित्य भी तैयार किया। प्रचार के लिये वे जहाँ जाते, ग्रन्थ लिखने की सामग्री, और लेखको को भी साथ ले जाते। सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, वेद-भाष्य तथा उनके अन्य सब ग्रन्थ प्राय: उनकी प्रचार-यात्राओ मे ही लिखे या लिखाये गये।

अपने विचारो और सिद्धान्तो के प्रचारार्थ ऋषि दयानन्द ने कई देशव्यापी यात्राएँ की। काशी, प्रयाग, कलकत्ता आदि अनेक स्थानो पर होते हुए वे बम्बई गये। बम्बई में जो व्यक्ति उनके उपदेशो से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बने, उनमे महादेव गोविन्द रान-डे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपने सिद्धान्तो के प्रचार को स्थायी रूप देने की दृष्टि से स्वामीजी ने बम्बई मे प्रथम आर्य-समाज की स्थापना की। इसके दो वर्ष बाद दूसरे आर्य-समाज की स्थापना लाहौर

में हुई। दक्षिण भारत की यात्रा समाप्त कर स्वामीजी पुनः उत्तर भारत आये। उनके जीवन का अधिकांश समय यात्रा करते ही वीता। इसका वांछनीय परिणाम भी निकला। देश के कोने-कोने में लोग उनके अनुयायी बन गये जिनमें स्वामी श्रद्धानन्द आदि कई महापुरुष भी थे।

वाणी और लेखनी द्वारा अपने सिद्धान्तों और विचारों के प्रचारार्थ स्वामीजी ने महात्मा बुद्ध की भाँति लोक-भाषा का प्रयोग किया। वे संस्कृत के भी प्रकाण्ड विद्वान थे और उन्हे सस्कृत में लिखने में कोई कठिनाई नही होती। किन्तु उन्होने सस्कृत को छोड़कर अपना समस्त प्रचार देश में सबसे अच्छी तरह वोली और समझी जाने वाली भाषा हिन्दी में ही किया। स्वामीजी को अपने उद्देश्य में जो असाधारण सफलता मिली, उसका एक मुख्य कारण उनकी यह सूझ-बूझपूर्ण भाषा-नीति भी थी।

स्वामीजी के मन में भारतीय सस्कृति के प्रति गहरी निष्ठा थी। उनके ग्रन्थों और भाषणों ने भारतवासियों का का ध्यान अपनी प्राचीन संस्कृति के गौरवमय इतिहास की ओर आकर्षित किया जिससे उनके निराश हृदय में एक नवीन आशा और आत्म-सम्मान का भाव जाग्रत हुआ। उन्होने स्थान-स्थान पर अपने देशवासियों का स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए आह्वान किया। कांग्रेस की स्थापना से कई वर्ष पूर्व अपने "सत्यार्थ प्रकाश" नामक ग्रन्थ में उन्होने यह लिखा था

कि "कोई कितना ही करे परन्तु जो 'स्वदेशी राज्य' होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है",जबकि मत-मतान्तर के आग्रह से रहित, अपने और पराये के पक्षपात से शून्य तथा प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नही है।"

स्वामीजी ने अपने ग्रन्थो में जिस सुराज्य का चित्र खीचा था वह लगभग एक सौ वर्ष के बाद स्वतन्त्र भारतीय गणराज्य के रूप में सार्थक हुआ।

स्वामीजी के पारमार्थिक जीवन की चर्चा करते हुए उनके वैयक्तिक चरित्र के सतोष, क्षमा,सरलता, शान्ति-प्रियता आदि गुणो का उल्लेख भी भुलाया नही जा सकता। उनके खण्डन से क्रुद्ध होकर कई बार लोग उनकी हत्या तक के लिये कटिबद्ध हो गये थे। एक दिन की बात है कि एक ब्राह्मण स्वामी जी के समीप आया और उन्हे एक पान भेट किया। स्वामीजी ने सहज भाव से उसे मुंह मे रख लिया। उसका रस लेते ही वे जान गये कि यह विषयुक्त है। ब्राह्मण से कुछ न कह कर वे उसी समय गंगा पार चले गये और वस्ति और नौली क्रिया कर विष को निकाल आये। स्वामीजी को विष देने का यह भेद किसी तरह स्थानीय तहसीलदार को मालूम हो गया। वह स्वामीजी का भक्त था। उसने विष देने वाले को बुलाकर कैद कर दिया। जब स्वामी को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होने कहला भेजा, "मैंने सुना है कि मेरे लिये आज आपने एक

व्यक्ति को कैद किया है। मैं मनुष्यों को मुक्ति दिलाने आया हूँ, बन्धन में डलवाने नहीं। अस्तु, आप उसे स्वतन्त्र कर दें।" स्वामी जी की क्षमावृत्ति देखकर तहसीलदार आश्चर्य-चकित रह गया।

निर्भयता भी स्वामीजी में उच्चतम कोटि की थी। एक बार जब वे अजमेर आये हुए थे, उनकी एक पादरी के साथ भेंट हुई। भेंट के समय पादरी साहब ने उन्हे कहा कि "यदि आप इसी तरह खण्डन करते रहे तो किसी दिन जेल चले जायेंगे।" स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता के साथ मुस्कराते हुए कहा—'मैं लोगों के डराने से सत्य नही छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फाँसी पर लटका दिया था।"

स्वामीजी बड़े-छोटे मे कोई भेद नही करते थे। उनकी दृष्टि मे सब प्रकार के कार्यो का एक ही समान स्थान था। एक दिन एक भक्त धुनिये ने प्रार्थना की—"स्वामीजी, जप के अतिरिक्त मुझे और क्या कर्म करना चाहिए, जिससे मेरा कल्याण हो?" स्वामीजी ने कहा—"सदाचार पूर्वक जीवन बिताओ। जितनी रुई किसी से लो, धुन कर उतनी ही उसे लौटा दो। यही सद्-व्यवहार तुम्हारे लिये एक उत्तम कल्याण-कारी मार्ग है।"

छुआछूत में स्वामीजी का विश्वास नही था। उनकी दृष्टि सबके लिये सम थी। अनूपशहर की बात है। एक दिन एक हरिजन बडी भक्ति-भावना के साथ थाल मे भोजन

परोस कर स्वामीजी की सेवा में लाया। स्वामीजी ने भोजन ले लिया। संयोग की बात कि उस समय वहाँ कुछ रूढ़िवादी व्यक्ति भी बैठे हुए थे। वे कह उठे, "छि· छि, स्वामी जी यह क्या करते है ? यह रोटी तो अछूत की है।" स्वामी जी ने हंसते हुए उत्तर दिया, "नही, यह रोटी तो गेहूँ की है, इसलिए मैं इसे अवश्य खाऊँगा।"

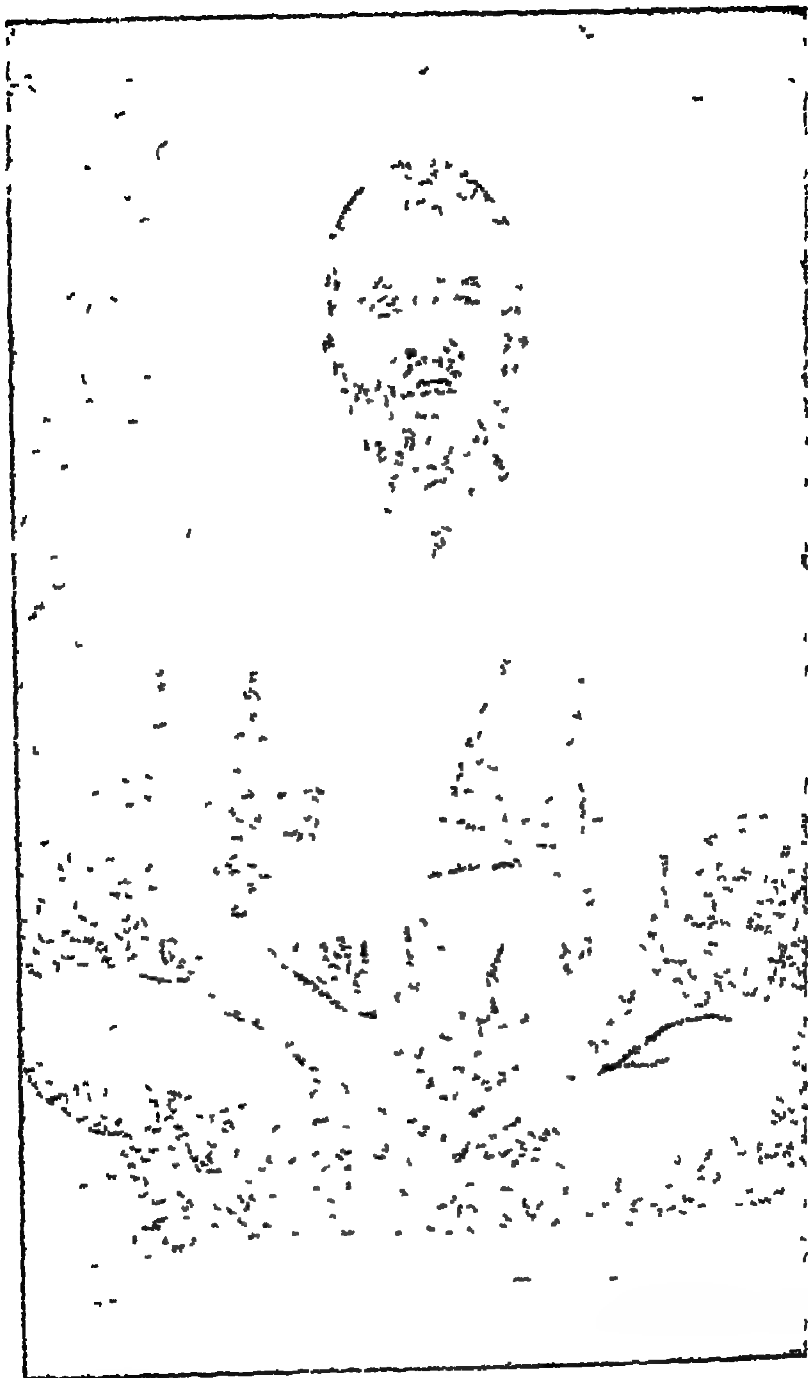
स्वामीजी की क्षमाशीलता का सबसे बड़ा उदाहरण उनके जीवन की अन्तिम दुर्घटना में मिलता है। राजस्थान की रियासतों मे भ्रमण करते हुए वे जोधपुर आये हुए थे। जोधपुर के महाराजा की उन पर बडी श्रद्धा थी। राजवश के इस प्रकार सत्पथ पर चले जाने की आशका से कुछ स्वार्थी लोग बहुत झुंझला उठे। महाराज की एक मुंह लगी वैश्या थी। वह महाराज पर स्वामीजी के बढते हुए प्रभाव से बहुत ही सशंक और रुष्ट थी। उसने कुछ कट्टरपथी लोगों के साथ मिल कर षड्यन्त्र किया और स्वामीजी के रसोइये द्वारा उन्हे दूध में घोलकर पिसा हुआ कॉच पिलवा दिया। काँच ने शरीर पर भयानक विष का असर किया। शरीर भर में फोडे फूट पड़े, जिससे दो मास तक पीड़ित रह कर ३० अक्टूबर, १८८३ को भारत के इस महान् सुधारक संत का देहान्त हो गया। स्वामीजी को उक्त घटना के तुरन्त बाद ही वस्तुस्थिति का पता चल गया था। किन्तु उन्होने अपने रसोइये को, जिसका नाम जगन्नाथ था, कुछ

भला-बुरा कहने या दण्डित करने के बजाय अपने पास बुलाया और कुछ रुपये देकर कहा, "जो कुछ होना था, वह हो गया। अब तुम तुरन्त यहां से कही दूर चले जाओ, नही तो बात फूटने पर यहाँ तुम्हारी कुशल न रहेगी।" ऋषि दयानन्द के क्षमाभाव का यह एक ऐसा उदाहरण है, जिसकी समता के उदाहरण मानव-इतिहास में विरले ही मिलते हैं।

स्वामी दयानन्द ने अन्धविश्वास तथा निरर्थक सामाजिक रूढ़ियो का विरोध कर समाज सुधार के लिये भगीरथ प्रयत्न किया। भारतीय समाज उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा।

ब.३ "मैं किसी भी भय से आक्रान्त होकर सन्मार्ग का त्याग नही कर सकता।

—दयानन्द



"सब धर्म मनुष्य के कदमों का उसी ईश्वर की ओर निर्देश करते हैं केवल अलग-अलग मार्ग से।"

"परमहंस"

: १२ :

# रामकृष्ण परमहंस

उन्नीसवी शताब्दी मे विदेशी दासता से भारत का मन-प्राण धूमायित हो रहा था। दर्पण पर छाई धूल के कारण जैसे मनुष्य को अपना प्रतिबिम्ब साफ नही दिखाई देता उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता से भ्रमित भारतीय शिष्ट वर्ग अपने देश की संस्कृति के स्पष्ट और उज्ज्वल स्वरूप को पहचानने और समझने मे असमर्थ था। लॉर्ड मेकाले ने भारतवर्ष मे पश्चिमी शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्तन के समय यह घोषणा की थी कि "इस शिक्षा के प्रभाव से कुछ ही वर्षों में भारतवासी केवल आकृति तथा रंगरूप मे ही भारतीय रह जाएंगे, जब कि उनका हृदय और मस्तिष्क पूरी तरह पाश्चात्य रंग मे रँग जायगा।" लॉर्ड मेकाले की यह भविष्यवाणी कुछ अंशों में फलीभूत हुई। अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों के मन मे भारतीय सस्कृति एवं सभ्यता के प्रति अरुचि उत्पन्न कर दी। लोगो के विश्वास डगमगाने लगे। उन्हे सभी कुछ पाश्चात्य ही अच्छा लगने लगा। स्पष्ट ही ये बाते किसी भी सुसंस्कृत राष्ट्र के लिए शोभनीय अथवा हितकर नही थी। रुढ़िवादी अथवा पुरातन वादी दृष्टिकोण जहाँ अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है, वहाँ अपनी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रति अरुचि

और अश्रद्धा की भावना एवं विदेशी रीति-नीति तथा आचार व्यवहार के प्रति विवेकहीन आग्रह भी किसी राष्ट्र के नागरिको के लिए उचित नहीं कहा जा सकता।

ऐसे समय में कुछ ऐसे महात्माओं तथा विद्वानों का जन्म हुआ जिन्होंने भारतवासियों का ध्यान उनकी अपनी संस्कृति के महान् वैभव की ओर खीचा। इन महात्माओ मे रामकृष्ण परमहंस और उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द के नाम चिरस्मरणीय रहेगे। रामकृष्ण परमहंस ने अपने जीवन के द्वारा भारत की सन्त-परम्परा का एक अतीव सुन्दर उदाहरण हमारे सामने रखा। विवेकानन्द ने रामकृष्ण के सिद्धान्तों का संसार-भर में प्रचार किया तथा अपने देश की सांस्कृतिक और सामाजिक जागृति के लिए भी उनका उपयोग किया।

रामकृष्ण परमहंस का जन्म सन् १८३६ में बंगाल के एक छोटे से गाँव कामापुर मे हुआ था। उनके पिता क्षुदीराम और माता चन्द्रादेवी बड़े धर्मपरायण दम्पति थे। उनका बचपन का नाम गदाधर था। वे बड़े सीधे और विनयशील बालक थे और बचपन से ही उन्हें भजन गाने और सुनने का बड़ा शौक़ था। साथ ही वे बड़े एकान्तप्रिय भी थे। जब गदाधर सात वर्ष के हुए तो उनके पिता का देहान्त हो गया। इससे उनकी रुचि धार्मिक जीवन के प्रति विशेष बढ़ गयी। वे स्कूल में पढ़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने जीवन और प्रकृति

के अध्ययन से शिक्षा प्राप्त की, न कि पुस्तकों और स्कूलों की चहारदीवारी से। उन्होंने परिव्राजक साधुओं और भजनीकों से भी बहुत कुछ सीखा।

उनके बड़े भाई रामकुमार सन् १८४९ में कलकत्ते चले गये और उन्होने वही एक संस्कृत पाठशाला खोल ली। बाद मे जब रानी रासमणि नामक एक जमीदार महिला ने कलकत्ते के पास दक्षिणेश्वर में एक कालीदेवी का मंदिर स्थापित किया तो रामकुमार वहाँ पुजारी नियुक्त किये गये। उन्होंने गदाधर को भी वही बुला लिया। कोई एक वर्ष बाद रामकुमार का देहान्त हो गया और गदाधर उस मंदिर के पुजारी बना दिये गये। धीरे-धीरे इनके मन में भक्ति की प्रबल लहर उठने लगी। देवी की पूजा-भक्ति के अलावा किसी भी कार्य मे उनका मन नही लगता था। दुनिया की दृष्टि मे उनका व्यवहार बडा विचित्र मालूम होता था। उनकी माता को यह भी सन्देह हुआ कि कही गदाधर कुछ विक्षिप्त तो नही हो गया। अपने सम्बन्धियो की राय से उन्होने गदाधर का विवाह करना निश्चित किया। आश्चर्य की बात है कि गदाधर बिना हिचकिचाहट के विवाह के लिये राजी हो गये। इतना ही नही उन्होंने ही यह भी सुझाया कि मेरा विवाह अमुक गाँव की शारदा देवी नामक छः वर्षीया बालिका से कर दिया जाय। उनके इस सुझाव के अनुसार उसी बालिका से उनका विवाह कर दिया गया। किन्तु इस विवाह से उनके

आध्यात्मिक जीवन में कुछ भी अन्तर नही पड़ा। कुछ बरसो के बाद शारदा देवी भी दक्षिणेश्वर आ गयी और अपने पति की सेवा करने लगी।

यद्यपि गदाधर ने, जिन्हें आगे रामकृष्ण कहा जायगा पहले दुर्गा माता की साधना और भक्ति की परन्तु बाद में वे राम तथा कृष्ण की आराधना करने लगे और आगे चलकर उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म के अनुसार भी आध्यात्मिक साधना की। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्म ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग हैं। वे स्वयं कहते हैं कि "मैंने सब धर्मों के अनुसार आचरण किया है, जैसे हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म। मैंने विभिन्न हिन्दू मतो के अनुसार साधना भी की है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सब धर्म मनुष्य के कदमों का उसी ईश्वर की ओर निर्देशन करते हैं, केवल मार्ग अलग-अलग हैं—मैं जिधर देखता हूँ उधर पाता हूँ कि हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, वैष्णव इत्यादि सब लोग धर्म के नाम पर झगड़ रहे हैं। वे कभी इस बात पर विचार नही करते कि जिसे कृष्ण कहते है, वही शिव भी कहलाता है और उसी को आद्यशक्ति, ईसा या अल्लाह का नाम भी दिया जाता है। एक ही राम है, जिसके हजार नाम हैं। एक कुण्ड के कई घाट हैं। एक घाट पर हिन्दू घड़ो में पानी भरते हैं और उसे जल कहते है, दूसरे घाट पर मुसलमान चमड़े की मशक में वही चीज पानी कह कर भरते

हैं, तीसरे घाट पर ईसाई उसे 'वाटर' कह कर लेते हैं। क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि 'पानी' जल नहीं है, वह केवल 'वाटर' या 'पानी' ही है ? कैसी हास्यास्पद बात है ! वस्तु वही है, नाम भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक व्यक्ति, उसी वस्तु की खोज मे है। नाम, स्वभाव और वातावरण-भर का अन्तर है। प्रत्येक मनुष्य को अपने ही मार्ग पर चलने देना चाहिए। यदि वह सचाई और व्यग्रता के साथ ईश्वर को जानना चाहता है तो वह अवश्य उस भगवान को प्राप्त कर लेगा।"

रामकृष्ण परमहंस ने जीवन के अन्तिम वर्ष अपने शिष्यों को जीवन का रहस्य समझाने मे लगाये। उनके कुछ शिष्यों ने आगे चलकर रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की और उनका विश्व-धर्म का संदेश सारे संसार मे पहुँचाया। इन शिष्यो मे स्वामी विवेकानन्द मुख्य थे। इनके जीवन और कार्य के सम्बन्ध पे आगे उल्लेख किया जा रहा है।

रामकृष्ण परमहंस का देहान्त सन् १८८६ में हुआ। भारत की ४० करोड जनता का दो हजार वर्ष का आध्यात्मिक जीवन रामकृष्ण के व्यक्तित्व में मुखरित हुआ। उन्होने केवल यही नहीं बतलाया कि केवल ईश्वर ही वास्तविक सत्य है, वरन् इस सत्य को मानव-सेवा के द्वारा साकार बनाने का मार्ग भी दर्शाया। आत्मा के लक्ष्य को प्राप्त कराने के लिये कर्मयोग बड़ी सुन्दर तैयारी है। जो व्यक्ति अपने बन्धुओं की

मुसीबतों और आवश्यकताओं के प्रति उदासीन है, वह आत्मा के विकास की ओर पहला चरण भी नही बढ़ा सकता। सत्य की खोज करने वाला जिस आत्मा को प्राप्त करना चाहता है वह संकुचित अर्थ में व्यक्ति की आत्मा नही है। वह विश्व के सभी प्राणियों में समान रूप से विराजमान है। इसलिए अहंकार आध्यात्मिकता का शत्रु है और निस्स्वार्थ सेवा के द्वारा ही अहकार पर विजय प्राप्त की जा सकती है। दुखियो और पददलितों की सेवा, उनमे जो ईश्वर विद्यमान है, उसकी पूजा के रूप में की जानी चाहिए।

श्री रामकृष्ण का विश्वात्मा से सहभाव इतना अधिक था कि वे कहते थे कि "मैं बार-बार कुत्ते के रूप में पुनर्जन्म का दण्ड भुगतने को तैयार हूं, यदि इससे मैं एक भी आत्मा की सेवा कर सकूं। मैं एक आत्मा की सहायता करने के लिये २० हजार बार मृत्यु का वरण करने को तैयार हूं।" एक मनुष्य की सहायता करना भी बड़ी शानदार बात है, उपनिषद् की शिक्षा का यही सार है। रामकृष्ण परमहंस उपनिषद् के जीते-जागते भाष्य थे, वास्तव मे वे मानव रूप में उपनिषद् की साकार प्रतिमा थे, भारत के बहुमुखी चिंतन के सदेह प्रतीक थे।

रामकृष्ण परमहंस ने अपने जीवन और उपदेश के द्वारा भारत की आत्मा को साकार बनाया और उनके प्रमुख शिष्य विवेकानन्द ने रामकृष्ण का संदेश सारे विश्व में फैला दिया।

: १३ :

# स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी सन् १८६३ ई० को कलकत्ता के एक सम्पन्न कायस्थ घराने मे हुआ था। उनके पिता विश्वनाथ दत्त नगर के प्रसिद्ध वकील थे। उनकी माता भुवनेश्वरी एक धर्मपरायण महिला थी। उनका बचपन का नाम नरेन्द्र नाथ था।

बालक नरेन्द्र को माता-पिता ने बड़े लाड़-प्यार से पाला। पढाई-लिखाई में भी उनकी गति बराबर अच्छी रही। एन्ट्रेंस परीक्षा में अपने स्कूल से केवल वे ही उस वर्ष प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए थे। बाद मे उन्होने कॉलेज मे पढ कर बी० ए० किया। कॉलेज मे पढते समय उनकी व्याख्यान देने मे बडी रुचि थी। अपने कॉलेज मे उन्होने एक व्याख्यान समिति भी बनायी थी। सगीत मे भी उनकी रुचि थी। ब्रह्म समाज की बैठको मे उनके भजन बहुधा लोगो को मुग्ध कर लेते थे। उनका शरीर स्वस्थ, सुगठित तथा सुन्दर था। कुश्ती, दौड, घुडदौड और तैराकी आदि की प्रतियोगिताओ मे वे उत्साहपूर्वक भाग लेते थे।

युवक नरेन्द्र अक्सर धार्मिक प्रश्नो मे विचार-मग्न रहते थे। पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन का भी उन्होने अध्ययन

किया था। किन्तु उनके जिज्ञासु मन को शान्ति नही मिल रही थी। ब्रह्म समाज की बैठकों में बराबर भाग लेते थे; किन्तु इससे भी उन्हें संतोष नही हो रहा था। जीवन के पूर्व हम कहाँ थे? मृत्यु होने पर कहाँ जायेंगे? सृष्टि कोई घटना है या रचना? क्या इसका कोई निर्माता है? परमात्मा क्या है? है भी या नही? इत्यादि प्रश्न उनके मन मे उठा करते थे, पर कोई समाधानकारक उत्तर उन्हे नही मिल रहा था।

उन्ही दिनों रामकृष्ण परमहस दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में पुजारी थे। जन साधारण को उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। एक दिन तरुण नरेन्द्र भी उनके पास पहुँचे पर श्रद्धाभाव से नही, वरन् केवल कौतूहल मे प्रेरित होकर। स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहस से अपनी पहली भेंट का वर्णन इस प्रकार किया है, "वे बिलकुल साधारण आदमी दिखायी पड़ते थे। उनके रूप मे कोई विशेष आकर्षण नही था। बोली बहुत सरल और सीधी थी। मैंने सोचा कि क्या यह सभव है कि वे सिद्धपुरुष होगे। मैं उनके पास पहुँचा और सीधे ही प्रश्न किया—"महाराज, क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते है?" उन्होंने बड़े शान्तभाव से कहा—"हाँ!" फिर मैंने पूछा—"क्या आपने उसे देखा है?" जवाब मिला—"हाँ देखा है, और देख रहा हूँ, वैसे ही जैसे तुम्हे या उस दीवार को।" मैंने इस प्रकार के प्रश्न पहले भी कई लोगों से

किये थे, परन्तु किसी ने ऐसा निर्भीक और स्पष्ट उत्तर नहीं दिया था। मुझे विस्मय हुआ। पुनः मैंने केवल इतना पूछा—"तो क्या आप किसी दूसरे को भी परमात्मा दिखा सकते हैं?" परमहंस ने मुस्कराकर अत्यन्त शान्त भाव से कहा—"हाँ, यदि कोई देखने वाला हो।" मैं कुछ और न पूछ सका। मुझ पर उनके शब्दों का बडा प्रभाव पडा।

नरेन्द्र ने बी० ए० पास कर कानून का अध्ययन आरम्भ किया। इसी बीच उनके पिता का देहावसान हो गया। नरेन्द्र पर आपत्तियाँ आ पडी। हड़बडा कर रामकृष्ण के पास पहुँचे और बोले "आप अपनी माताजी से मेरे लिये प्रार्थना कीजिये, मुझसे कुटुम्ब का कष्ट नही देखा जाता।" नरेन्द्र के प्रश्न पर उन्होंने इतना ही कहा, "जा और माता के सामने खड़े होकर जो चाहे वह माँग ले।" नरेन्द्र पर ब्रह्म समाज का प्रभाव था। मूर्ति में उन्हें विश्वास नही था, पर स्वार्थ-वश वे गये। किन्तु जब माँगने के लिए मुँह खोला तो विवेक, ज्ञान और वैराग्य का ही वरदान माँग बैठे। अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिये कुछ माँगने की उनकी इच्छा ही नही हुई। लौटने पर रामकृष्ण ने पूछा भी—"जगदम्बे से तुमने क्या माँगा?" नरेन्द्र ने उत्तर दिया—"जगदम्बे से दुनियाँ की चीजें माँगना मुझे नही सूझा।" रामकृष्ण ने हँसकर कहा—"मैं जानता था, तू तुच्छ वस्तु माता से नही माँगेगा।" नरेन्द्र के मन पर इस भेंट का भी वड़ा प्रभाव

पड़ा। वे उस समय तो घर लौट गये, पर उनका मन अब सांसारिक जीवन मे लगता न था। वकालत की पढाई-लिखाई पिछड़ने लगी। माँ विवाह के लिए आग्रह कर रही थी। पर जो संसार से ही विरक्त होता जा रहा हो, वह विवाह के बन्धन में कैसे पड़ता? आखिर एक दिन नरेन्द्र ने घर छोड़ दिया और सदा के लिए रामकृष्ण के पास जा पहुँचे। रामकृष्ण को एक सच्चा शिष्य मिल गया। नरेन्द्र अब संन्यासी हो गये और उनका नाम विवेकानन्द हो गया।

१८८६ में रामकृष्ण परमधाम सिधारे। विवेकानन्द ने रामकृष्ण का संदेश विश्व में फैलाने का व्रत लिया। इसके लिए वे ६ वर्ष तक संन्यासी के रूप में चारों ओर घूमकर, अपने ज्ञान की वृद्धि तथा आत्मिक शक्ति का संचय करते रहे। उसके बाद वे अपने संकल्प के अनुसार देश-विदेश में भारतीय धर्म और दर्शन के प्रसार के महान कार्य में जुट पड़े। अपनी आध्यात्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में विवेकानन्द अपने आपको रामकृष्ण परमहंस का चिरऋणी मानते थे। उन्होंने लिखा भी है—"यदि वास्तविक सत्य कुछ है और संसार में यदि दार्शनिकता के बारे में मैंने कुछ भी कहा है, तो उसका श्रेय उन्हीं को (रामकृष्ण परमहंस को) है—धर्म अनुभूति की वस्तु है, तर्क की नहीं।"

भारतीय जीवन-दर्शन तथा तत्त्वज्ञान से पश्चिमी देशों को परिचित कराने के लिये वे ३१ मई सन् १८९३ को बम्बई

से रवाना हुए और संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो नगर में होने वाले सर्व-धर्म-सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए पहुँचे। उनके पास कोई परिचय-पत्र अथवा किसी सस्था की ओर से प्रतिनिधि-पत्र नही होने के कारण पहले तो उन्हे कोई उस महासभा मे प्रवेश देने को तैयार नही हुआ, किन्तु अन्त मे उनके दृढ संकल्प और विश्वास की विजय हुई, और उन्हें उक्त महासभा मे बोलने का अवसर मिल गया। बस बोलने भर की देर थी कि श्रोताओ पर उनकी योग्यता और उनके व्यक्तित्व की धाक जम गयी। विवेकानन्द ने भारतीय धर्म की उदारता, सहिष्णुता तथा आध्यात्मिकता आदि गुणों की ऐसी सुन्दर और प्रभावमयी व्याख्या सुनायी कि सुनने वाले मन्त्र-मुग्ध हो गये।

इस पहले ही व्याख्यान से स्वामी जी की कीर्ति सर्वत्र फैल गयी। प्रायः सभी समाचार-पत्रो ने स्वामीजी के व्याख्यानो का प्रशसा की। "न्यूयार्क हेरल्ड" ने लिखा, "सर्व-धर्म-सम्मेलन मे सबसे महान् व्यक्तित्व विवकानन्द का है। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानवान् देश को सुधारने के लिए हमारे यहाँ से धर्म-प्रचारको (मिशनरियो) को भेजना कितनी मूर्खता है।" सम्मेलन के सभापति ने भी अपने भाषण मे कहा कि "जिसधर्म और देश के प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द है, वह देश निस्सन्देह महान् धर्म-क्षेत्र है।"

अमेरिका के प्रवास से समय निकाल कर विवेकानन्द इग्लैण्ड और स्विट्जरलैण्ड की यात्रा भी कर आये। अगस्त, १८९५ में उन्होंने अमेरिका छोड़ा। जनवरी १८९७ में वे लका की राजधानी कोलम्बो पहुँचे। इस समय तक उनका नाम संसार के हर कोने में फैल चुका था। अमेरिका की तरह इंग्लैण्ड आदि देशों में भी स्वामीजी के भाषणों की बड़ी धूम रही। इंग्लैण्ड में 'आत्म-ज्ञान' विषय पर उन्होने जो भाषण दिया था, उसकी चर्चा करते हुए एक पत्र में लिखा था कि "राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन के पश्चात् विवेकानन्द पहले भारतीय हैं, जिन्होने अपने व्याख्यान द्वारा इस देश के लोगों पर इतना गहरा प्रभाव डाला। उनका भाषण सचमुच बड़ा गम्भीर और मार्मिक था।"

कुछ ही दिनों मे स्वामी जी के सदुपदेशों का विदेशो में इतना प्रभाव जम गया कि कई नर-नारी उनके शिष्य बन गये। इनमें कुमारी नोबल भी थी, जो विवेकानन्द की अनुयायिनी बनकर 'भगिनी निवेदिता' के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

कोलम्बो से विवेकानन्द भारत लौटे। देश-विदेशो मे भारतीय संस्कृति और तत्वज्ञान का डंका बजाकर लौटने वाले इस महापुरुष के स्वागत में भारतीय जनता ने अपनी आँखें बिछा दी। भारत लौटने पर भी स्वामीजी का सद्धर्मोपदेश का काम पूर्ववत् चलता रहा। देश में स्थान-स्थान पर वे गये और उन्होने अन्ध-विश्वासो और रूढ़ियो से मुक्त भारतीय



"मनुष्य का हृदय ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर है, इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी चाहिए, इसी से तुम्हें शान्ति मिलेगी।'

'विवेकानन्द'

तत्त्वज्ञान और धर्म का ठीक-ठीक परिचय जनता को देने का प्रयत्न किया। स्वामीजी के व्याख्यानों मे व्यावहारिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता था। उन्होने लोगो की आवश्यकता के अनुरूप ही उन्हे धर्म-तत्त्व समझाये। इग्लैण्ड और अमेरिका को उन्होंने सयम और त्याग का महत्त्व सिखाया तो भारतवासियों का ध्यान उन्होने विशेष रूप से देश की आर्थिक और सामाजिक दुरवस्था की ओर खीचा। भारत में दिये गये अपने भाषणो मे उन्होने अधिक जोर समाज-सेवा पर दिया। एक सन्यासी को शान्ति के सम्बन्ध मे उत्तर देते हुए उन्होने कहा था, "भाई, जिस शान्ति को तुम पाना चाहते हो, वह आंखे बन्द करने से नही मिलेगी। यदि तुम सच्ची शान्ति चाहते हो तो खुले नेत्रो से अपने आस-पास की दरिद्रता और दु ख से कराहती मानवता को देखो। यथाशक्ति उसकी सहायता करो। यदि लोगो के पास कपड़ा नही है तो कपडे का प्रबन्ध करो। रोगो से सन्तप्त लोगों के लिए दवादारू का प्रबन्ध करो। यही परमात्मा की सच्ची सेवा है। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर है। इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी चाहिए। इससे तुम्हे शान्ति मिलेगी।" सन् १८९७ मे जब प्लेग और अकाल का प्रकोप भारतवासियो को पीस रहा था और हजारो व्यक्ति भूख और रोग के शिकार हो रहे थे, स्वय स्वामीजी बडी तन्मयता के साथ लोगो की सेवा मे जुटे हुए थे।

इस सेवा-कार्य को एक नियमित और व्यवस्थित रूप देने के लिए कलकत्ता लौटने पर विवेकानन्द ने अपने गुरु के नाम पर "रामकृष्ण-मिशन" की स्थापना की। पहले तो संन्यासियों ने इस कार्य को दुनिया के बन्धन में फँसाने वाली वस्तु समझ कर उसमें पड़ना अस्वीकार किया। पर अन्त में वे सेवा का रहस्य समझ कर इसमें भाग लेने के लिए तत्पर हो गये। आज रामकृष्ण-मिशन की शाखाएं भारत के कोने-कोने में फैली हुई हैं और रोगी, भूखे, अपाहिज, अपढ़ और अछूतों की सेवा कर रही हैं। इस मिशन के अन्तर्गत पहला आश्रम कलकत्ता के निकट वेलूर में और दूसरा अल्मोड़ा जिले मे मायावती नामक स्थान पर खुला।

स्वामीजी भारतीय दर्शन तथा तत्त्वज्ञान के अन्यतम व्याख्याता थे। उन्होंने वेदान्त की दार्शनिक विचार-धारा को सामाजिक उपयोगिता की भूमि पर ला उतारा। अज्ञान, अन्ध विश्वास, अशिक्षा, विदेशी अनुकरण, दासता, दुर्बलता आदि बुराइयों पर उन्होंने कठोरता से चोट की। दीर्घकालीन विदेशी प्रभुत्व में रहते-रहते भारतीयों के हृदय में हीनता की भावना ने जड़ पकड़ ली थी, उसे दूर करने के लिए उन्होंने आत्मवाद का प्रचार किया। उन्होंने बल देकर कहा कि वेदान्त पुरुषार्थ का समर्थक है, अकर्मण्यता का नहीं। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था—

"अद्वैतवाद हम लोगों को अपने को दुर्बल समझने का उपदेश नहीं देता, वरन् अपने को तेजस्वी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ समझने का उपदेश देता है। हममें से प्रत्येक के अन्दर अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता और अमरता का विशाल सिन्धु भरा हुआ है। हम लोगो को इस महामहिम आत्मा के प्रति विश्वास जगाना होगा, तभी बल आएगा। तुम जो चिन्तन करोगे, वही बनोगे। अगर तुम अपने को दुर्बल समझोगे तो दुर्बल हो जाओगे, और यदि तेजस्वी समझोगे तो तेजस्वी बनोगे।"

देश की सामाजिक और आर्थिक दशा उस समय जिस बुरी तरह से गिर रही थी उसको ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्होने अपनी तेजस्वी वाणी मे घोषणा की थी कि, "अब अधिक रोने धोने का समय नही है। इस समय साहस और बल की आवश्यकता है। मै ही ब्रह्म हूँ, इस ज्ञान की सहायता से स्वय अपने पैरो पर खड़े होओ और फिर देखो कि अपने मे कैसी अपूर्व शक्ति का सचार होता है।"

धर्म के नाम पर देश की दीन-हीन शोषित जनता को भुलावे मे रखने का प्रत्यन करने वालो को भी ललकार कर उन्होंने सावधान किया और स्पष्ट शब्दों मे कहा—"पहले रोटी, पीछे धर्म। जब तुम्हारे देशवासी भूखों मर रहे है, तब तुम उन्हे धर्म सिखा रहे हो? याद रखो, भूख की अग्नि

को धर्म कभी शान्त नही कर सकता—मैं तुम्हे फिर याद दिलाता हूँ कि सबसे पहले तुम्हें अपने ेश के असंख्य पतित भाइयो का उद्धार करना होगा।"

दो ढाई वर्ष तक भारत मे कार्य करने के बाद स्वामीजी को अपने विदेशी भक्तो के अनुरोध पर एक बार फिर इग्लैण्ड और अमेरिका जाना पडा। लगभग एक वर्ष तक वहाँ उन्होने लोगों को अध्यात्म का सन्देश सुनाया। अकेले सान्फ्रांसिस्को मे ही उन्होने पचास व्याख्यान दिये। अपने शिष्यों और भक्तों की सहायता से वहाँ वेदान्त-सोसाइटी और शान्ति-आश्रम नाम की दो संस्थाएं भी स्थापित की, जो आज भी बड़ा अच्छा काम कर रही हैं। वहाँ से स्वामी जी पेरिस के धार्मिक सम्मेलन मे सम्मिलित होने गये। वहाँ से चल कर यूरोप के कई अन्य देशो को यात्रा करते हुए भारत लौटे।

स्वामीजी को अपने ेश की मिट्टी और उसकी सन्तान से सच्चा प्रेम था। वे ेश की तरुण पीढो को शक्तिमान देखना चाहते थे। देश के तरुणों को सम्बोधित कर वे प्राय: कहा करते थे कि "मेरे नवयुवक मित्रो, बलवान बनो। भगवद्गीता के स्वाध्याय से भी पहले अपने शरीर और मन को दृढ और पुष्ट करो। यदि तुम्हारी रगें और पुट्ठे अच्छी तरह पुष्ट होंगे तो तुम भगवद्गीता पर भी अधिक अच्छी तरह आचरण कर सकोगे। याद रखो, गीता

का उपदेश कायरों को नही दिया गया था, वरन् अर्जुन जैसे वीर, पराक्रमी और साहसी क्षत्रिय को दिया गया था।"

विवेकानन्द की अपने देश के प्राचीन आदर्शों पर बड़ी श्रद्धा थी। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था "प्यारे देशवासियो! वीर बनो और ललकार कर कहो कि मैं भारतीय हूँ। भारत मेरा प्राण है, मेरा जीवन है। प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है। अपढ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय, नीची जाति का भारतीय सब मेरे भाई है। उनकी प्रतिष्ठा मेरी प्रतिष्ठा है, उनका गौरव मेरा गौरव है।" इतने बड़े धर्मोपदेशक होते हुए भी स्वामी विवेकानन्द की यह बहुत बडी विशेषता थी कि उनमे दुराग्रह कही नाम मात्र को भी न था। उदारता तथा हृदय की विशालता उनके महानतम् गुण थे। धर्म की उनकी व्याख्या बडी उदार और व्यापक थी। उनका कहना था कि—"समस्त ससार मे किसी भी समय केवल एक ही धर्म नही रह सकता।"

देश का दुर्भाग्य था कि स्वामी विवेकानन्द ने दीर्घ आयु नही पायी। स्वभाव से वे अत्यन्त परिश्रमी थे। उनका सिद्धान्त था कि इस क्षणभगुर जीवन मे लेशमात्र भी आलस्य नही करना चाहिये। जीवन के अन्तिम दिनो मे उनका स्वास्थ्य ठीक नही रहता था किन्तु इतने पर भी उनकी जीवन-चर्या मे कोई अन्तर नही आया। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक जागरूक तथा कर्मरत बने रहे।

४ जुलाई १९०२ को अपने विद्यार्थियो का पाठ समाप्त कर वे टहलने गये। लौटकर आये तो ध्यान-मग्न होकर बैठ गये। यही ध्यान उनकी महासमाधि थी। यों स्वामी जी अमर है, उनका कार्य अमर है, उनका सन्देश अमर है।

# महात्मा गाँधी

महात्मा गाँन्धी का जन्म २ अक्टूबर, १८६६ को वर्त्तमान गुजरात राज्य के पोरवन्दर नगर मे हुआ था। यह नगर प्रचीन सुदामापुरी भी कहा जाता है। गाँधीजी के पिता राजकोट से यहाँ आये थे। इसके बाद वे वापस राजकोट जाकर रहने लगे। गाँधीजी का नाम मोहनदास था तथा उनके पिता का नाम कर्मचन्द। इस प्रकार गांधीजी का पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी पडा।

गाँधीजी के पिता बड़े सत्यवादी तथा स्पष्टवक्ता थे। वे साफ साफ बात कहते हुए किसी से नही डरते थे। उनकी माता पुतली बाई बडी धर्मात्मा महिला थी। वे व्रत-उपवास बहुत करती थी। नियमित रूप से भगवान के दर्शन तथा पूजा के लिये मन्दिर जाती थी। उनका स्वभाव बडा सरल तथा दयालु था। इस प्रकार बचपन से ही गाँधीजी को ऐसा वातावरण मिला जिससे उनमे सत्य, अहिंसा, करुणा और सयम के संस्कार पनपने लगे।

बाल्यावस्था मे गाँधीजी पढाई मे तेज नही थे। वे शाला मे मितभाषी तथा शर्मीले विद्यार्थी माने जाते थे।

एक बार जब उनकी शाला का निरीक्षण करने इन्सपेक्टर महोदय आये तो उन्होंने गांधीजी की कक्षा के विद्यार्थियों से कुछ प्रश्न पूछे, जिनमें केटल (चाय की केटली) शब्द की हिज्जे (स्पेलिंग) भी एक था। गांधीजी ने इस प्रश्न का उत्तर ग़लत लिखा। अध्यापक ने अपने जूते से उनके पांव पर हल्की सी ठोकर लगाकर इशारा किया कि वे अपने आगे बैठे विद्यार्थी का उत्तर देख लें। पर गांधीजी इस इशारे को समझ न सके, क्योंकि उन्हें स्वप्न में भी यह विचार नहीं था कि अध्यापक उन्हें दूसरे विद्यार्थी के उत्तर की नकल करने के लिये प्रेरणा दे सकता है। यदि वे इस इशारे को समझ भी जाते, तब भी नकल न करते।

गांधीजी का विवाह १३ वर्ष की आयु में ही हो गया था। तब वे स्कूल में पढ़ते थे। उनकी पत्नी का नाम कस्तूरबाई था। कस्तूरबाई सारे भारत में 'बा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने ६० वर्ष से भी अधिक समय तक गांधीजी के साथ रह कर देश की सेवा में उनका हाथ बंटाया।

प्रारम्भ में गांधीजी को कुछ बुरी आदतें लग गईं। उनके एक सम्बन्धी की सोहबत से उन्हें धूम्रपान का शौक हो गया। छिप-छिप कर दोनों बीडी और सिगरेट पीने लगे। उनके चाचा सिगरेट पीते थे। उनके फेंके हुए सिगरेट के टुकड़े एकत्र कर वे फूंकने लगे। पर इतने से सन्तोष कैसे



महात्मा गांधी

होता ? इसलिये नौकरो की जेबों में से पैसे दो पैसे चुराना शुरू किया। इससे भी तसल्ली नही हुई। उन्हे अपनी पराधीनता बड़ी अखरने लगी। उस सम्बन्धी और गांधीजी दोनों ने धतूरे के बीज खाकर आत्म-हत्या करने का निश्चय किया। परन्तु ३, ४ से अधिक बीज न खा सके, और मन्दिर में जाकर मन में शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। आत्म-हत्या का विचार मन से निकाल दिया और साथ ही साथ धूम्रपान भी छोड़ दिया।

इसी तरह गांधीजी को मांस खाने की आदत भी पड़ गयी। उनके कुछ मित्रों ने कहा कि यदि हम लोग अँग्रेजो को भारत से निकाल कर देश को स्वतन्त्र बनाना चाहते है तो बलिष्ठ बनना चाहिये और मजबूत बनने के लिये मांसाहार आवश्यक है। चुपके-चुपके एकान्त स्थानों मे जाकर मास खाने लगे। गांधीजी लिखते हैं कि पहले दिन जब उन्होने मास खाया तो उन्हे चैन नही पड़ा। रात को नीद नही आयी। उन्हे ऐसा महसूस होने लगा मानो पेट मे बकरा बोल रहा हो। कुछ समय बाद वे अपने हृदय की करुणा को दबा न सके और न वे अपने किसी भले-बुरे काम को अपने माता-पिता से छिपा सके। अतएव उन्होने मांसाहार छोड़ दिया।

एक भूल जिसके लिए गांधीजी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ वह चोरी की थी। गाँधीजी के मँझले भाई ने २५) रुपये का कर्ज कर लिया था। वे और गाँधीजी दोनों भाई इस चक्कर में थे कि किस तरह यह कर्ज चुकाया जाय। अन्त मे

उन्हें यह सूझा कि भाई के हाथ में जो सोने का कडा है उसे कटवा कर एक तोला सोना निकलवा ले और उसे बेच कर ऋण चुका दें। यही किया गया, लेकिन इससे गांधीजी के मन में बडी ग्लानि हुई। वे इस अपराध को छिपा न सके। पिताजी से सब कुछ कहकर क्षमा माँगने का प्रयत्न किया। उन दिनों उनके पिताजी बीमार थे, और बिस्तर पर लेटे रहते थे। क्षमा मांगने को गांधीजी की जुबान नही खुलती थी, अतएव उन्होने एक पत्र लिख कर पिता के सिरहाने रख दिया। इस पत्र मे उन्होने अपनी भूल का वर्णन कर उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट किया था तथा हृदय से क्षमा माँगी थी। पिताजी को दुःख तो बहुत हुआ, परन्तु पुत्र के पश्चात्ताप की आँच से उनका क्रोध आंसू बन कर टपक पड़ा। उन आँसुओ से पत्र भीग गया।

गांधीजी भी वेदना और पश्चात्ताप के आंसू बहा रहे थे। पश्चात्ताप के इन आंसुओं से उनका हृदय शुद्ध हो गया और भविष्य के लिए उन्हे बड़ी शक्ति और दृढता मिली।

१८ वर्ष की अवस्था में गांधीजी ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके पहले ही उनके पिताजी का देहान्त हो चुका था। इनके कुटुम्ब के कुछ शुभचिन्तको ने राय दी कि मोहन-दास को बैरिस्टर बनाने के लिये विलायत भेजना चाहिए। परन्तु उनको माता को आशका थी कि विलायत जाकर वे कही मांस व मदिरा का सेवन न करने लगें। अत. उन्होने

अपने पुत्र को विलायत भेजने के प्रस्ताव का विरोध किया। जब सम्बन्धियों तथा मित्रों ने बहुत समझाया और गांधीजी ने एक जैन साधु के पास जाकर ये तीन व्रत लिये कि "वे (१) मास नही खायेगे, (२) मदिरा नही पियेंगे, तथा (३) ब्रह्मचर्य से रहेगे, तब उन्होने गाधीजी को विदेश जाने की अनुमति दी। गाँधीजी बड़े अरमान लेकर लन्दन पहुँचे। परन्तु इन व्रतों के कारण उन्हे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। डाक्टरो ने उन्हे राय दी कि इंगलैण्ड की ठण्डी आबहवा में माँसाहार आवश्यक है। वहाँ जो निरामिष आहार मिलता है वह एक युवक की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये पर्याप्त नही है। परन्तु हजार कठिनाइयो के होते हुए भी गांधीजी मांस या मदिरा का सेवन करने के लिये तैयार नही हुए। उन्होने निरामिष भोजन को अधिक पौष्टिक और स्वास्थ्यप्रद बनाने के लिए कई प्रयोग किये, जिनकी कहानी अत्यन्त रोचक है। महापुरुष अपने सिद्धान्तों पर सदैव दृढ रहते हैं। वे आसपास के वातावरण तथा फैशन के प्रवाह में अपने सिद्धान्तों को बहाने के लिए तैयार नही होते।

विलायत जाकर गांधीजी ने फैशन के अनुसार रहने तथा नृत्य, वायलिन-वादन तथा भाषण देने की कला सीखने की बडी कोशिशे की। इन पर धन भी खर्च किया। परन्तु अनुभव से धीरे-धीरे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विदेशियों की नकल कर हम उनकी संस्कृति नही अपना सकते। हमारे

लिये यह अन्धा अनुकरण उचित नही।

तीन वर्ष लन्दन में शिक्षा प्राप्त कर गांधीजी बैरिस्टर बनकर भारत लौटे। लौटने पर उन्हें यह समाचार सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि उनकी स्नेहमयी माता का, जो वर्षों उनके स्वदेश लौटने की प्रतीक्षा करती रही थी, देहान्त हो चुका था।

भारत लौटकर गांधीजी वकालत करने लगे। परन्तु इंगलैण्ड में पढ़कर परीक्षा पास करना एक बात थी, और अदालत में सफल वकील बनना दूसरी बात। अपनी प्रारम्भिक वकालत का वर्णन स्वयं उन्होंने इस प्रकार किया है। "खफीफा अदालत की देहली लांघने का यह पहला अवसर था। मैं मुद्दायले की ओर से था। अब मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा तो हुआ, पर पाँव कॉप रहे थे ; सिर चकरा रहा था। जान पड़ता था—कचहरी घूम रही है। सवाल सूझते ही न थे। जज हँसा होगा। वकीलों को तो मजा ही मिल गया होगा, पर मेरी आँखे क्या मुँह देख पाती थी? मैं बैठ गया। दलाल से बोला—मुझ से तो यह मुकद्दमा न चल सकेगा। पटेल को कर लीजिये। मुझे दिया हुआ मेहनताना वापस ले लीजिये। मैं भागा। मुवक्किल जीता या हारा, इसकी मुझे याद नही।"

लगभग डेढ़ वर्ष तक असफल वकालत करने पर गांधीजी को दक्षिण अफ्रीका के एक व्यापारी ने अपने एक मुकद्दमे में

सहायता करने के लिये बुलाया। इस घटना से गांधीजी के जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। दक्षिण अफ्रीका में उस समय भारतवासियों की स्थिति खराब थी। उन्हे पग-पग पर अपमान सहने पड़ते थे। गांधीजी को कई बार बुरी तरह से अपमानित किया गया। एक बार वे डरबन से प्रिटोरिया जा रहे थे। पहले दर्जे का टिकट लिया था। जब रात के ९ बजे वे नेटाल की राजधानी मेरित्सबर्ग पहुँचे तो वहाँ रेल के कर्मचारियो ने उनसे डिब्बा बदलने को कहा। उनके मना करने पर सिपाही को बुलाया गया, जिसने उनका हाथ पकडा और एक धक्का मारकर उन्हे डिब्बे से बाहर निकाल दिया। उनका सामान भी बाहर फेक दिया गया और गाड़ी चल दी। रात भर गांधीजी वेटिंग रूम मे ठंड से ठिठुरते रहे और दूसरे दिन चल कर प्रिटोरिया पहुँचे।

एक और भी घटना इसी प्रकार की हुई। आप एक बार घोड़ागाड़ी से सफ़र कर रहे थे। कुछ गोरे उसी गाड़ी में आ बैठे। वे एक हिन्दुस्तानी के साथ नही बैठना चाहते थे। इसलिए आपको जबर्दस्ती बाहर निकाल कर कोचवान के पास बैठाया गया। फिर थोड़ी देर बाद वहाँ से भी हटाकर कोचवान के पांव के पास बैठने को मजबूर किया गया। कई बार आपको धक्के, मुक्के व लाते सहनी पड़ी—केवल इसलिए कि आप हिन्दुस्तानी थे। उन दिनों दक्षिण-अफ्रीका में एक हिन्दुस्तानी के साथ, वह चाहे कितना ही विद्वान या प्रतिष्ठित व्यक्ति क्यो न हो, दुर्व्यवहार किया जाता था।

परन्तु गांधीजी के मन मे इतना अपमान सहकर भी दक्षिण-अफ्रीका की सरकार अथवा वहाँ के गोरे निवासियों के प्रति द्वेष उत्पन्न नही हुआ। उन्होंने कभी किसी अपमान के लिये मुकद्दमा चलाने का इरादा नही किया, और न उनके विरुद्ध भारतीयो में कभी द्वेष या हिंसा जाग्रत करने का प्रयत्न ही किया। उन्होने अत्याचार का विरोध किया, पर अत्याचारी के प्रति क्रोध या द्वेप नही रखा।

गाँधीजी ने दक्षिण-अफ्रीकी भारतीयों को अपने आत्म-सम्मान के लिये संघर्ष करने को तैयार किया। उन लोगों की ओर से दक्षिण-अफ्रीका सरकार तथा ब्रिटिश सरकार को आवेदन-पत्र भेजे गये। समाचार पत्रों मे उनकी उचित माँगों का समर्थन किया गया। सभाएँ कर, हजारों व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाकर तथा अन्य वैधानिक साधनो को अपनाकर जब काम न चला तो सरकारी नियमों को अहिंसा-त्मक ढंग से तोड़ने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इसे सत्याग्रह कहते हैं। राजनीति को गांधीजी की यह विशेष देन है। गाँधीजी का दृष्टिकोण यह था कि अन्यायपूर्ण कानून का मानना आवश्यक नही है। उसे बदलवाने का प्रयत्न करना चाहिये। यह प्रयत्न यथासम्भव वैधानिक अर्थात् कानून के अनुसार होना चाहिये, परन्तु अन्त मे यदि वैधानिक कार्यवाही से सफलता न मिले तो अहिंसात्मक ढंग से उस नियम को तोड़कर उसका विरोध किया जाना चाहिये।

गाँधीजी ने दक्षिण-अफ्रीका में पहले पहल सत्याग्रह का प्रयोग किया। उन दिनो एक नया कानून बना था, जिसके अनुसार कोई भी भारतीय ३ पौण्ड टैक्स तथा अपनी दसों अगुलियों की छाप लगाये बिना ट्रांसवाल नामक प्रदेश में जा नही सकता था। इस नियम के विरुद्ध दो-ढाई हजार भारतीयो ने गाँधीजी के नेतृत्व मे जुलूस बनाकर ट्रांसवाल मे प्रवेश किया। उन्हे कैद कर लिया गया तथा ओर भी तरह-तरह की तकलीफे दी गयी। परन्तु अन्त में सत्याग्रह-आन्दोलन सफल रहा और भारतीयो की माँगे मान ली गयी। कुल मिलाकर गाँधीजी २१ वर्ष दक्षिणी अफ्रीका मे रहे। उन्होने वहाँ रहकर अफ्रीका-निवासी भारतीयो की बडी सेवा की, उन्हे सगठित किया तथा सच्चाई और नैतिकता से अपने अधिकारो के लिए सघर्ष करना सिखलाया। स्वय गाँधीजी को इन २१ वर्षो मे अमूल्य अनुभव प्राप्त हुए। राजनीतिक सगठन और सत्याग्रह के जो प्रयोग उन्होने दक्षिणी अफ्रीका में किये, उन्ही का भारत के स्वतन्त्रता-सग्राम मे भी उपयोग किया। उन्ही प्रयोगो के आधार पर गाँधीजी के नेतृत्व मे हमने स्वतन्त्रता प्राप्त की।

गाँधीजी ने दक्षिण-अफ्रीका मे कई अन्य प्रयोग भी किये। उन्होने सादगी और स्वावलम्बन को प्रमुखता दी। उन्होंने स्वावलम्बन के कई प्रयोग किये जैसे अपना भोजन स्वय बनाना, अपने वस्त्र स्वय धोना और स्वय ही उन पर

इस्तरी करना, अपने घर की नालियां व पाखाने स्वयं साफ करना आदि-आदि। उन्होंने वहाँ दो आश्रम भी खोले जिनमे कई लोग सादगी और स्वावलम्बन को अपनाकर साथ-साथ रहने लगे।

सन् १९१४ में गांधीजी दक्षिण-अफ्रीका से रवाना हुए और कुछ दिन इंग्लैण्ड में रुक कर भारत लौट आये। उन दिनों गोपालकृष्ण गोखले भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के एक प्रमुख नेता थे। गाँधीजी उन्हे अपना गुरु मानते थे। उन्होंने गांधीजी को राय दी कि तुम कुछ वर्ष भारत की स्थिति का अध्ययन करो, फिर विचार कर अपने कार्य की योजना बनाना। उनके परामर्श के अनुसार गाँधीजी ने कुछ वर्ष तक देश मे भ्रमण कर यहाँ की मुख्य-मुख्य समस्याओ का अध्ययन किया।

इसके बाद गाँधीजी के जीवन का एक नया दौर शुरू हुआ। प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के बाद उन्होने देश के स्वतन्त्रता-सग्राम का नेतृत्व किया। इस सग्राम की कहानी यहाँ दोहराना आवश्यक नही है। यहाँ हम यही देखेंगे कि किस प्रकार गाँधीजी देश की राजनीति मे भी अपने प्रिय सिद्धान्त सत्य और अहिंसा पर दृढ़ रहे। इन सिद्धान्तों का राष्ट्रीय राजनीति में उपयोग मानव जाति को गाँधीजी की महान देन है। गाँधीजी के भारत की राजनीति मे प्रवेश के पहले हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन अधिकतर पढ़े-लिखे मध्यम

वर्ग तक ही सीमित था। गांधीजी ने उसे जन-आन्दोलन बनाया और वह भी अहिंसात्मक जन-आन्दोलन। सन् १९१९-२१ में इस आन्दोलन ने असहयोग का रूप लिया, १९३०-३२ में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन का रूप, और सन् १९४२-४४ में यह "भारत छोड़ो" आन्दोलन कहलाया, जिससे हमारे राष्ट्र ने भारत मे अंग्रेजो के सम्पूर्ण शासन को अस्वीकार कर उनकी सत्ता के विरुद्ध देशव्यापी विद्रोह कर दिया। परन्तु गांधीजी ने इन सब आन्दोलनो को अहिंसा पर आधारित रखने पर अधिकाधिक बल दिया। सन् १९२१ मे जब उत्तर-प्रदेश के चौरीचौरा नामक स्थान पर उत्तेजित जनता ने एक थाने पर आक्रमण किया, जिसमें कि २० व्यक्ति मारे गये तो गांधीजी ने इस आधार पर कि राष्ट्र अभी तक अहिंसात्मक सग्राम के लिए तैयार नही है, 'असहयोग आन्दोलन' तुरन्त बन्द कर दिया। वे हिसा द्वारा स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेतृत्व के लिए तैयार नही थे। द्वितीय महायुद्ध के दिनों जापानियों का भारत पर आक्रमण होने की सम्भावना हो गयी थी। गांधीजी ने उनका भी अहिंसात्मक विरोध करने का कार्यक्रम बनाया और राष्ट्र के सामने रखा।

सन् १९३० के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन मे उनके आदेश के अनुसार लाखो व्यक्तियों के जुलूस तथा सभाएं पूर्णरूप से अहिसक रहे और जनता ने लाठियां पडने पर भी क्रुद्ध होकर हिंसात्मक प्रतिकार नही किया। गांधीजी ने

इस बात पर बड़ा जोर दिया कि हमें अत्याचार का विरोध करना चाहिये, किन्तु अत्याचारी के प्रति द्वेष या क्रोध नही करना चाहिये। विश्व के इतिहास में अहिंसा का इतने बडे पैमाने पर प्रयोग और कही नही हुआ। सदियों से मनुष्य की यह धारणा रही है कि प्रशासन और राजनीति में असत्य व्यवहार के बिना काम नही चलता। इसीलिए इसे कूटनीति का नाम दिया जाता है : अपने विरोधी के प्रति स्नेह और अहिंसा की भावना राजनीति मे नई चीज़ है। परन्तु गांधी जी ने अपने राजनीतिक विरोधियों के प्रति भी सहानुभूति और स्नेह का व्यवहार किया। यद्यपि स्वर्गीय श्री जिन्ना ने बरसो गांधीजो और कांग्रेस का विरोध किया और अन्त में पाकिस्तान बनवा कर इस देश के दो टुकड़े करा डाले, फिर भी गाँधीजी का उनके प्रति व्यवहार अत्यन्त सौजन्यपूर्ण था और उनके मन में श्री जिन्ना के प्रति कोई द्वेष नही था। हमारे देश के अंग्रेज शासक गांधीजी को अंग्रेजी साम्राज्य का सबसे बड़ा दुश्मन मानते थे। परन्तु गाँधीजी का उनसे भी कोई द्वेष नही था। उनके प्रति भी उन्होने कभी क्रोध नही किया और न कभी कोई हिंसात्मक भावना ही रखी। इसीलिए वे भी गाँधीजी का बड़ा आदर करते थे। दक्षिणी अफ्रीका के प्रधानमन्त्री जनरल स्मट्स गांधीजी को अपना बडा विरोधी मानते थे, फिर भी गाँधीजी के लिए उनके मन मे बडा सम्मान था।

केवल राजनीति ही नही, अर्थनीति को भी गाँधीजी अहिंसा के सिद्धान्तों पर चलाना चाहते थे। उन्होने देखा कि आजकल औद्योगिक युग मे कारखाने के पूँजीपति मालिक और संचालक मज़दूरों का शोषण करते है। उनसे अधिक से अधिक काम लेकर कम से कम वेतन देना चाहते हैं, उनके पसीने की कमाई पर शान-शौकत से रहते हैं। बड़े-बडे कारखानो मे बहुत-सी पूँजी लगानी पडती है, अतः उनकी सारी व्यवस्था कुछेक पूँजीपतियो तथा उनके द्वारा नियुक्त कार्यकर्त्ताओ के हाथ मे रहती है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि कारखानों की आमदनी का बड़ा भाग वे अपने लिये रख ले और मजदूरो का शोषण करते रहे। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे बड़े-बडे उद्योग राज्य के हाथ मे रहते हैं, इसलिए पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण का खतरा नही है, परन्तु गाँधीजी इसे भी उचित नही समझते थे। उनकी राय थी कि धन या शक्ति का केन्द्रीकरण चाहे पूंजीपतियों के हाथ मे हो चाहे राज्य के हाथ में, खतरनाक है। यदि राज्य के हाथ मे शक्ति केन्द्रित हो गयी तो भी नागरिकों की स्वतन्त्रता खतरे मे पड जायगी। इसीलिए वे बडे-बडे उद्योगो के ही विरुद्ध थे। उनकी राय थी कि यथासंभव सभी सामान्य उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन छोटे-छोटे उद्योगों द्वारा होना चाहिये। इसे 'विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था' कहते है, क्योंकि इसमे उत्पादन बिखरे हुए छोटे-छोटे कुटीर-उद्योगों द्वारा होता है। गाँधीजी की राय में विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था

होने से पूंजीपति व मजदूर की समस्या नही रहेगी, और आर्थिक शोषण मिटाया जा सकेगा। ऐसी व्यवस्था स्थापित करने के लिये गांधीजी ने बड़ा प्रयत्न किया। उन्होंने खादी, ग्रामोद्योग और कुटीर-व्यवसाय को महत्त्व दिया और ऐसी संस्थाएँ स्थापित की, जो ग्रामोद्योगों को पनपा सके। इस प्रकार गांधीजी अहिंसा के सिद्धान्त के आधार पर विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था क़ायम करना चाहते थे।

गाँधीजी की यह भी राय थी कि अहिंसा और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर ही स्वतन्त्र भारत का ढांचा अर्थात् सविधान बनाया जाय। वे ग्राम-स्वराज्य के पक्ष मे थे। वे चाहते थे कि प्रत्येक गाँव या कुछ गाँव मिलकर अपना शासन आप चलावें, प्रादेशिक या केन्द्रीय सरकार उनके स्थानीय मामलों में हस्तक्षेप न करे। शासन-तंत्र जितना विकेन्द्रित होगा उतने ही नागरिक अपने उत्तरदायित्व और अधिकार की ओर जागरूक होगे। शासन-व्यवस्था जितनी ही केन्द्रित होती जायगी, उतना ही स्वतन्त्रता और जनतंत्र के लिये खतरा बढ़ता जायगा। इसी दृष्टि से वे साम्यवाद तथा राज्य-समाजवाद (State Socialism) के विरुद्ध थे। हमारे देश के सविधान मे जो राज्य के निर्देशक तत्व हैं, उनमें गाँवों के स्वायत्त शासन के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। इसी सिद्धान्त के आधार पर सन् १९५९ से राजस्थान मे व उसके बाद अन्य राज्यों में भी

जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की नीति को अपना कर पचायत-समितियों की स्थापना की गयी है, तथा उन्हे बहुत सी जिम्मेदारियाँ और अधिकार दिये गये है। ग्राम-पंचायतो को भी कई विकास-कार्यों की जिम्मेदारी सौंप दी गयी है।

गाँधीजी ने अपने मूल सिद्धान्त 'अहिंसा' के द्वारा हमारे सामाजिक जीवन के शुद्धीकरण का भी प्रयत्न किया। उन्होने यह समझ लिया था कि हमारे समाज में दो महान् दोष ऐसे है, जो हिंसा और कलह के कारण बने हुए है—एक तो छुआ-छूत का अभिशाप, और दूसरा हिन्दू-मुस्लिम-द्वेष। छुआ-छूत, हिन्दू-समाज के विभाजन तथा विघटन का कारण बना हुआ है। यह भावना तथाकथित उच्चवर्णों तथा अछूतों दोनों के लिए हानिकारक है, तथा हिन्दू-समाज के लिये कलंक है। गाँधीजी ने अछूतों को 'हरिजन' अर्थात् भगवान के प्रेमपात्र कह कर पुकारा, उनकी उन्नति के लिये 'हरिजन-सेवक संघ' को स्थापना की और अपने जीवन मे कई बहुमूल्य वर्ष उनकी सेवा मे लगाये। यह मुख्यतः गाँधीजी की प्रेरणा का फल है कि आज स्वतन्त्र भारत के संविधान में 'छुआछूत' को गैर कानूनी बना दिया गया है। पिछले वर्षों में छुआछूत और हरिजनों की निर्योग्यताओ का अन्त करने की दिशा में बहुत प्रगति हुई है।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए भी गांधीजी ने महान् प्रयत्न किया। उन्होंने महसूस किया कि इस देश में जो कई धर्मो के अनुयायी बसते है, उनमें भ्रातृत्व और एकता अत्यन्त

आवश्यक है। हिन्दू और मुसलमान भारतीय समाज के दो मुख्य अंग हैं, जिनके पारस्परिक सम्बन्धो का निर्माण स्नेह, सहिष्णुता और भ्रातृत्व की नीव पर होना चाहिये। बहु-संख्यक वर्ग का अल्पसंख्यक वर्ग पर हावी होना अनुचित ही नही बल्कि दोनों वर्गों के लिए खतरनाक भी है। जब मुस्लिम-लीग की ओर से विभाजन का प्रस्ताव आया तो गांधीजी ने उसका विरोध किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय हिन्दू-मुस्लिम दंगों और मारकाट से उनका हृदय विदीर्ण हो गया। जब इस देश का विभाजन हुआ तो गांधीजी को ऐसा आघात लगा मानो उनके शरीर के टुकड़े कर दिये गये हो। उन्होंने विभाजन को स्वीकार नही किया, परन्तु कांग्रेस ने परिस्थिति-वश उनकी बात नही मानी और पाकिस्तान बन गया। उसके बाद भारत और पाकिस्तान दोनो देशो मे भयकर रक्तपात होता रहा। गांधीजी को यह देखकर असह्य वेदना हुई। उन्होने भारत में रक्तपात रोकने के लिये उपवास किया। इससे स्थिति में कुछ सुधार भी हुआ परन्तु साम्प्रदायिक वैमनस्य का जो विष देश में फैल रहा था, उसके प्रभाव से नाथूराम गोडसे नामक एक हिन्दू युवक ने गांधीजी की हत्या कर दी। अपना प्राण देकर उस महात्मा ने नीलकण्ठ शिव के समान साम्प्रदायिक द्वेष के कालकूट को पी लिया। वह मानव-भ्रातृत्व और प्रेम के लिये जिया और उसी की रक्षा के लिये शहीद हो गया।

गांधीजी के मानव-प्रेम का एक पक्ष था—उनका सर्व धर्म-समभाव। रामकृष्ण परमहंस के समान वे भी यह मानते थे कि संसार के सभी महान् धर्म ईश्वर को प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग है। उनमे बड़े-छोटे का कोई वर्गीकरण नही हो सकता। उन्हे यह भी पसन्द नही था कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो को अपने धर्म में मिलाने का प्रयत्न करे। जब गांधीजी के आश्रम में सामूहिक प्रार्थना होती थी तो उसमे गीता, कुरान शरीफ, बाइबल आदि विभिन्न महान् धर्मग्रन्थों मे से चुनी हुई प्रार्थनाएँ की जाती थी। उनकी प्रिय रामधुन में वे अपने साथियों के साथ गाते थे :—

'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान'

उन्हे ईश्वर में पक्का विश्वास था। वे मानते थे कि मनुष्य तो कर्त्तव्य-मात्र कर सकता है, सफलता प्रदान करना भगवान के हाथ है। सन् १९४२ मे जब वे 'भारत छोड़ो आन्दोलन' प्रारम्भ करने वाले थे तो किसी साथी ने कहा, "बापू, आप अंग्रेजों को अन्तिम चुनौती दे रहे है। वे आसानी से भारत का राज्य छोड़ने वाले थोड़े ही हैं। मेरी राय मे यह इतनी बड़ी चुनौती है जिसके लिये आपने तैयारी नही की है।" गांधीजी ने उत्तर दिया, "मैंने जिस हद तक सभव था, अपना कर्त्तव्य किया है, बाकी मैं भगवान पर छोड़ता हूँ।" संकट तथा दुविधा के समय ईश्वर सही मार्ग दिखलावेगा, यह उनका दृढ विश्वास था।

गाँधीजी सत्य को भगवान का स्वरूप मानते थे। अपना सारा जीवन उन्होने सत्य की खोज में लगा दिया था। उनकी दृष्टि में सही सत्य की खोज ईश्वर की खोज थी। उनका यह भी विश्वास था कि पूर्णरूप से अहिंसा को स्वीकार किये बिना मनुष्य सत्य या ईश्वर की खोज नही कर सकता। यदि मन द्वेष, क्रोध या हिंसा से दूषित हो तो मनुष्य सत्य की तह मे कैसे पहुँच सकता है? सत्यरूपी ईश्वर की खोज कैसे कर सकता है।

गाँधीजी की अहिंसा प्रेम का ही दूसरा नाम है। उन्होंने कहा भी है, 'मैं अपने प्रभु से साक्षात्कार करने के लिए व्यग्र हूँ—मेरा प्रभु सत्यस्वरूप है। लेकिन अपनी साधना के आरम्भ मे ही मैंने पहचान लिया था कि अगर मुझे जीवन का चरम सत्य पाना है तो मुझे प्रेम की हुकूमत के आगे सर झुका देना होगा।'

'लेकिन हमे अपने प्रेम का विस्तार करना चाहिये। हमे अपने गाँव को प्यार करना चाहिये, फिर जिले को प्यार करना चाहिये, फिर देश को और अंत में हमे अपने को विश्व-प्रेम मे लीन कर देना चाहिये।'

'मेरे पास तो सिवाय प्रेम के किसी पर भी किसी तौर का अधिकार नही है। प्रेम देता है, कभी कुछ माँगता नही। प्रेम सदा दुःख सहता है, कभी दुःख देता नही, कभी बदला नही लेता।'

'जहां प्रेम है वही भगवान है' गांधीजी ने अपने जीवन मे ऐसे ही निस्स्वार्थ प्रेम को साकार किया था।

ऐसे थे हमारे बापू! हमारे राष्ट्र-पिता! जिन्होने शत्रु से प्रेम किया! विरोधी को प्रेम से जीता। स्वय थप्पड, लात, घूसे, और अन्त मे गोली सही, परन्तु कभी किसी पर क्रोध नही किया! किसी की बुराई करने का विचार हृदय मे फटकने तक नही दिया! अपने साथी आश्रमवासियो के अपराध का प्रायश्चित वे स्वयं उपवास करके करते थे। हिन्दू-मुस्लिम-विद्वेष की अग्नि को वे अपनी तपस्या के बल से शान्त करते थे। देश के करोडो दरिद्र-नारायण को भगवान का रूप मान कर उनकी सेवा करते थे। यही उनकी ईश्वर-भक्ति थी। ऐसे सन्त सदियों मे कभी जन्म लेते है। उनकी मृत्यु पर श्री नेहरू ने कहा था, "हमारे जीवन का प्रकाश बुझ गया। चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा है! प्रकाश बुझ गया, यह तो कह दिया मैने, किन्तु वास्तव मे भूल की। क्योंकि वह तेजोमय प्रकाश कोई साधारण प्रकाश नही था। जो प्रकाश इस देश को इतने वर्षो से प्रकाशित करता रहा है, वह अभी बहुत समय तक इसे इसी प्रकार आलोकित करता रहेगा और आज से सहस्रो वर्ष बाद भी इस देश में दिखायी देगा।"

एक अमरीकी सज्जन ने कहा है, "ईसा के बाद ईश्वर का सत्य रूप और किसी मे इतना नही दिखाई दिया।"

भारत का मस्तक सदियों तक गौरवान्वित रहेगा कि उसने ऐसे महात्मा को जन्म दिया।

'शान्ति तलवार से नही मुहब्बत के जोर से हो, मुहब्बत से बढ़कर जोड़ने वाली चीज दुनिया मे दूसरी नही है।'